भारत–चीन सम्बन्ध और तिब्बत

एक पुनर्विचार

गिरिलाल जैन **ए.पी. वेंकटेश्वरन**

जवाहर लाल नेहरू रक्षत पुरी

सुधाकर भट्ट **अजित भट्टाचार्जी**

के.एन. मेनन शंकर शरण

विदेश मंत्रालय, भारत सरकार **निखिल चक्रवर्ती**

निर्मल वर्मा राहुल बेदी

सुनंद के. दत्ता रे ब्रह्मा चेल्लानी

राम जेठमलानी **इंटरनेशनल कैम्पेन फॉर तिब्बत**

तिब्बती संसदीय एवं नीति शोध केन्द्र
नई दिल्ली

blank

भारत-चीन सम्बन्ध और तिब्बत
एक पुनर्विचार

तिब्बती संसदीय एवं नीति शोध केंद्र
नई दिल्ली

संपादक : शंकर शरण
अनुवाद : मीनू मंजरी

प्रथम संस्करण
अप्रैल 1998

हिन्दी अनुवाद ©
तिब्बती संसदीय एवं नीति शोध केंद्र
सी-1/1267, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110 070

मुद्रक :
अर्चना एडवरटाईजिंग प्रा. लि., नई दिल्ली-110 014
फोन : 431-1992, 432-2834
मुखपृष्ठ चित्र : मार्क रिबौड/मैगनम फोटो एजेंसी

(दलाई लामा का प्रथम भारत आगमन, वर्ष 1956। पंचेन लामा, दलाई लामा, चीन के प्रधानमंत्री चाउ एन लाई, भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और भावी प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी)

अनुक्रम

प्रस्तावना

समय और संदर्भ

भाग एक : अतीत

तिब्बत में भारत की विफलता	*गिरिलाल जैन*	9
चीन की चुनौती	*जवाहर लाल नेहरू*	19
पंचशील की मृत्यु	*सुधाकर भट्ट*	24
चीन का स्वप्न	*के.एन. मेनन*	30
विश्वशक्ति बनने के चीनी प्रयास	*विदेश मंत्रालय, भारत सरकार*	34

भाग दो : वर्त्तमान

संसार का अंतिम उपनिवेश	*निर्मल वर्मा*	43
तिब्बत और मैकमहोन रेखा	*सुनंद के. दत्ता रे*	47
भारत की निष्प्रभावी कूटनीति	*राम जेठमलानी*	55
भारत की चीन समस्या	*ए.पी. वेंकटेश्वरन*	59
हममें आत्मसम्मान की कमी है	*रक्षत पुरी*	62
फिर वही गलती	*अजित भट्टाचार्जी*	65
भारत की चीन नीति	*शंकर शरण*	67
भारत को पहल करनी चाहिए	*निखिल चक्रवर्ती*	71
सुरक्षा सिद्धांत की आवश्यकता	*राहुल बेदी*	74
मुस्कान के आवरण में कुटिलता	*ब्रह्मा चेल्लानी*	77
तिब्बत में आणविक अस्त्र	*इंटरनेशनल कैम्पेन फॉर तिब्बत*	81

स्त्रोत

हम 'मुक्त' और 'स्वतंत्र' जैसे शब्दों को राजनैतिक शब्दावली में ठीक-ठीक परिभाषित नहीं कर सकते। लेकिन वास्तविक जीवन में, अपने बचपन में हमने अपने देश में स्वतंत्रता का अनुभव किया था जब कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं था। राजनीतिक, आर्थिक, देशी-विदेशी सभी मुद्दों पर हम स्वतंत्रता से निर्णय लेते थे, कार्य करते थे। फिर हमने देखा कि हमारे लोगों, हमारे देश पर दूसरे देश की सेना द्वारा बलपूर्वक अधिकार कर लिया गया। और तब हमने अनुभव किया कि स्वतन्त्रता का अभाव क्या होता है। फिर हमें अपने ही देश से निर्वासित कर दिया गया तो हमने जाना कि बिना किसी अधिकार के रहना क्या होता है और क्या होता है एक शरणार्थी बनकर रहना । इन अनुभवों में तर्क ढूंढने की कोई आवश्यकता नहीं है, हमने इन्हें प्रत्यक्ष महसूस किया है। यदि कोई इन अनुभवों को झुठलाना चाहे तो भी हम उन्हें नहीं भुला सकते, क्योंकि हमने उन्हें महसूस किया है। तिब्बत एक देश है और एक समुदाय है। चूँकि तिब्बत को चीन ने अवैधानिक रूप से अधिकृत कर लिया है, तिब्बती जनता को आत्मनिर्णय का पूरा अधिकार है।

- प्रो. सामदोंग रिनपोचे
(निर्वासित तिब्बती संसद के अध्यक्ष)

प्रस्तावना

30 मई 1959 को भारत के एक प्रमुख नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने तिब्बत के प्रश्न पर आयोजित एक अखिल भारतीय सेमीनार में अध्यक्षीय अभिभाषण में कहा था कि ''तिब्बत के निकटतम पड़ोसी होने और एक ऐसा देश होने के नाते जो कि अपने नैतिक मूल्यों के कारण जाना जाता है तथा सत्ता राजनीति से मुक्त है, भारत पर तिब्बत के मामले में बड़ी जिम्मेदारी आन पड़ी है। समस्त विश्व भारत की ओर मार्गदर्शन के लिए देख रहा है और भारत को निराश नहीं करना चाहिए। ''

भारत और तिब्बत के बीच सदियों से विशेष सम्बंध रहे हैं। अत: तिब्बत के इतिहास की इस संकट की घड़ी में तिब्बती लोग भारतवासियों की ओर, तिब्बत समस्या के स्थायी समाधान के लिए, उनके प्रयासों में सहयोग और समर्थन देने के लिए देख रहे हैं। भारत की जनता और सरकार से तिब्बतियों को जो गहरी सहानुभूति और अपार उदारता मिली है, और अभी भी मिल रही है, उसके लिए केवल कृतज्ञता ही प्रगट की जा सकती है। तथापि हाल के सालों में भारत की ओर से अपनायी गई चुप्पी के परिणामस्वरूप, कुछ मौकों पर, तिब्बत समस्या के प्रति उदासीनता और यथास्थिति से सहमति दिखायी देती है।

भारत की स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगांठ के सुअवसर पर - एक ऐसी सभ्यता जो दमन और उपनिवेशवाद की पीड़ा से परिचित है - भारत के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह अपनी तिब्बत और चीन नीति का सचाई से पुनर्विचार करे। लगभग पचास वर्षों के अधिग्रहण के बाद, तिब्बत समस्या में समस्त विश्व की दिलचस्पी फिर जाग उठी है और अब चरमसीमा पर पहुंच गयी है। ऐसे असाधारण समय में, भारतीय नेताओं की ओर से आशाजनक पहल करने की बड़ी जरूरत है।

इस समय इस पुस्तक को प्रकाशित करने के दो मुख्य प्रयोजन हैं-

पहला, यह आशा कि इन लेखों से हमारे भारतीय बन्धुओं में तिब्बत समस्या के बारे में बेहतर जागरुकता और व्यापक समझ पैदा होगी।

दूसरा, इस निर्विवाद तथ्य पर जोर देना कि तिब्बत का भविष्य न केवल तिब्बतियों के लिए बल्कि भारत, एशिया और समस्त विश्व के लिये भी महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है।

अत: इस पुस्तक का प्रकाशन इस निवेदन के साथ किया जा रहा है कि वह भावना और साहस, जिसके साथ भारतीय नेताओं ने भारतीय स्वतंत्रता के प्रारम्भिक वर्षों में तिब्बत की त्रासदी पर विचार व्यक्त किये थे, पुन: जाग्रत हो। आशा है तिब्बत समस्या

को निर्णायक रुप से सुलझाने के प्रश्न पर भारत पुन: साहसिक दृष्टिकोण अपनायेगा। तिब्बती लोग और समस्त विश्व के स्वतंत्रता-प्रेमी लोग आशा करते हैंकि भविष्य में भारत की आवाज तिब्बत के पक्ष में उठने वाली आवाजों में सबसे ऊंची होगी।

इस पुस्तक में संकलित लेख उन अनेक प्रश्नों से सम्बंधित हैं जो भारत, तिब्बत और चीन के बीच सम्बंधों के लिए प्रासंगिक हैं। इन लेखों में तिब्बत समस्या पर भारत की प्रारम्भिक भूमिका, प्रधानमंत्री नेहरू के पंचशील सिद्धान्तों, भारत और तिब्बत के बीच निरन्तर भूमि विवाद, तिब्बती पठार के परमाणवीयकरण एवं सैन्यीकरण और भारत पर उसके अप्रत्याशित प्रभाव तथा तिब्बत समस्या के स्थायी समाधान में भारत द्वारा निभायी जा सकने वाली रचनात्मक भूमिका पर चर्चा की गयी है। प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू के भाषण तथा श्री निर्मल वर्मा के लेख को छोड़कर, सभी लेख ओर उद्धरण भारत-तिब्बत मैत्री संस्थान (सोसायटी) द्वारा मूलत: अंग्रेजी में (India Tibet & China : An Agonising Reappraisal) शीर्षक के अर्न्तगत प्रकाशित किये गये थे।

तिब्बती संसदीय एवं नीति शोध केन्द्र इस पुस्तक के लेखकों के प्रति भारत-चीन सम्बंधों और उसमें तिब्बत की महत्वपूर्ण भूमिका के बारे में उनकी निष्पक्ष व गहरी समझ की सराहना करता है और हार्दिक आभार प्रगट करता है। शोध केन्द्र इस अवसर पर श्री निर्मल वर्मा के लेख को छोड़कर अन्य सभी लेखों और उद्धरणों का हिन्दी में अनुवाद करने के लिए सुश्री मीनू मंजरी का भी धन्यवाद करता है। और अन्त में, तिब्बती संसदीय और नीति शोध केन्द्र तिब्बती जन-प्रतिनिधि एसेम्बली और फ्रेडरिक नाउमन स्टिफतुंग के प्रति उनके द्वारा इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रदत्त मार्ग दर्शन और पूर्ण सहयोग के लिये आभार प्रगट करता है।

अप्रैल 1998

- सेरिंग सोमो (सुश्री)
कार्यकारी निदेशक

समय और संदर्भ

हाल के वर्षों में भारत की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में ह्रास हुआ है। दुनिया के महत्वपूर्ण देशों के साथ सम्बंधों में भारत की स्थिति कमजोर होती जा रही है। पश्चिमी शक्तियाँ भारत की बात अब तभी सुनती हैं जब उसे आदरभाव से प्रकट किया जाता है। यह वही भारत है जिसे 1955 में संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् का स्थाई सदस्य बनने का खुला आमंत्रण दिया गया था।

यदि उस आमंत्रण को ठुकराया न गया होता तो पिछले चार दशक का इतिहास कैसा होता यह एक दिलचस्प अनुमान का विषय है। पर अभी संदर्भ यह है कि भारत ने वह सुनहरा मौका चीन के प्रति एकजुटता दिखाने के लिए ठुकराया था। क्योंकि पश्चिमी शक्तियाँ तब चीन को संयुक्त राष्ट्र की मामूली सदस्यता तक देने के लिए तैयार नहीं थीं। 1955 में सान फ्रांसिस्को से लौटकर तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. जवाहर लाल नेहरू ने मुख्यमंत्रियों को अपने पत्र में लिखा :

> **अनौपचारिक रूप से ऐसा आश्वासन दिया गया कि चीन को संयुक्त राष्ट्र में ले लिया जाएगा परन्तु सुरक्षा परिषद् में नहीं। इसके स्थान पर भारत को सुरक्षा परिषद् में आने के लिए कहा गया। हम निश्चय ही यह स्वीकार नहीं कर सकते थे क्योंकि इसका मतलब होता कि हम चीन के साथ नहीं हैं। और फिर सुरक्षा परिषद् में चीन जैसे महान् देश का न होना एक अनुचित बात भी है। इसलिए हमने यह स्पष्ट कर दिया कि हम इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सकते। हम एक कदम और आगे गए और कहा कि भारत इस क्षण सुरक्षा परिषद् में जाने के लिए इच्छुक नहीं है चाहे एक महान देश होने के नाते इसे उसमें होना चाहिए। पहली बात यह है कि चीन को उसका उचित स्थान मिले। तब भारत के बारे में अलग से विचार किया जा सकता है।**

ठीक उसी समय, जब भारत चीन के लिए इतना बड़ा त्याग कर रहा था, चीन के कम्युनिस्ट शासक गोपनीय रूप से भारत के लद्दाख क्षेत्र में घुसकर अक्सई चिन से होते हुए एक सैन्य मार्ग का निर्माण कर रहे थे (देखें पृष्ठ 68)। यह विश्वासघात भारत और चीन के बीच हुए ऐतिहासिक पंचशील समझौते (1954) के बाद किया जा रहा था जब हम 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के उत्साह से छलक रहे थे।

आज चार दशक के बाद स्थिति ठीक उल्टी है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का विस्तार अभी विचाराधीन है। अब भारत भी उसमें एक सीट पाना चाहता है। क्या चीन, जो सुरक्षा परिषद् का एक वीटोधारी स्थाई सदस्य है, भारत का समर्थन करेगा? इसका उत्तर दिल्ली स्थित चीनी राजदूत पेई युआन इंग के बयान में पाया जा सकता है। इंग के

अनुसार चीन सुरक्षा परिषद् के विस्तार का समर्थन तो करता है, पर इसकी सावधानी बरती जानी चाहिए कि विश्व में उत्तर और दक्षिण के तथा विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाए। कूटनीतिक भाषा में कही गई इस घुमावदार बात का तात्पर्य यह है कि सुरक्षा परिषद् में एशिया और विशेषकर दक्षिण एशिया के प्रतिनिधि के रूप में चीन तो पहले से मौजूद है। अत: पहले तो अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। फिर जब एशिया जैसे विशाल महादेश से एकाध और प्रतिनिधि लेना हो तो 'क्षेत्र' के आधार पर अरब देशों या मध्य एशिया से किसी को जगह मिलनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, भारत के लिए स्थान नहीं होना चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परोपकार का क्या स्थान है यह तो किसी भी अध्येता के लिए स्पष्ट है। पर जहाँ तक स्वतंत्र भारत की बात है, हमारी विदेश नीति की शुरूआत निश्चय ही कुछ गलत आकलनों से हुई थी। हमारे राजनीतिक नेतृत्व को यह विश्वास था कि अंतर्राष्ट्रीय समझौते, खासकर द्विपक्षीय समझौते, दोनों पक्षों पर समान रूप से बाध्यकारी होते हैं। इसी विश्वास के तहत भारत ने चीन के साथ अपने सम्बन्धों में कुछ गंभीर गलतियाँ की। प्रधानमंत्री बनते ही स्व. जवाहर लाल नेहरू को जो पहले संदेश मिले थे, उनमें एक संदेश तिब्बत की सरकार की तरफ से भी था। उसमें सीमा सम्बंधी प्रश्नों पर भी चर्चा की गई थी। उसका उत्तर देते हुए नेहरू जी ने लिखा था: ''भारत की सरकार को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि तिब्बत की सरकार भारत के साथ सम्बन्धों को वर्त्तमान आधार पर चलाना चाहती है जब तक कि उन विषयों पर नए समझौते न हो जाएं जिन्हें कोई भी पक्ष उठाना चाहे। यही पद्धति उन सभी देशों ने अपनाई है जिनके साथ कूटनीतिक सम्बंध भारत को ब्रिटिश सरकार से विरासत स्वरूप प्राप्त हुए हैं।'' अपने इस उत्तर द्वारा भारत ने स्पष्टत: तिब्बत को अन्य देशों की तरह एक स्वतंत्र देश माना था।

परन्तु जब 1949 में चीन में कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हुई और उन्होंने साम्राज्यवादियों की तरह तिब्बत पर अपना दावा पेश किया तो भारत ने कोई सुसंगत रूख नहीं अपनाया। यह कितने अंतर्विरोधों और कमजोरियों से भरा था इसे गिरिलाल जैन के पैने विश्लेषण में देखा जा सकता है। सुधाकर भट्ट के लेख से यह पता चलता है कि 'पंचशील' के प्रति हमारी प्रतिबद्धता एकतरफा थी। चीनी नेतृत्व ने उस समझौते का कुटिल इस्तेमाल केवल भारत को गफलत में रखने के लिए किया था। स्वयं नेहरू जी का भाषण, जो इस संकलन में शामिल है, इस बात की स्वीकृति है कि वह चीन की कूटनीति और विदेश नीति का कितना कम अनुमान लगा पाए थे। भारतीय विदेश मंत्रालय का दस्तावेज इसकी सशक्त व्याख्या है कि कम्युनिस्ट चीन की विदेश नीति की मूल दिशा और उपादान क्या रहे हैं। के.एन.मेनन ने चीनी शासकों के एक चिरंतन

स्वप्न का विवरण दिया है, जिसमें चीन को दुनिया का केंद्र और सबसे बड़े साम्राज्य में बदलने की कामना है।

वस्तुत: चीन द्वारा तिब्बत के बलात् अधिग्रहण और इसमें भारत द्वारा कुछ न कर पाने से भारत की अंतर्राष्ट्रीय साख की बहुत बड़ी हानि हुई। एशियाई देशों में भारत के साथ सहयोग बढ़ाने के प्रति आकर्षण कम हो गया। कम्युनिस्ट चीन के उदय से जो शंका पड़ोसी देशों में पैदा हुई थी वह भय में बदल गई। उन्हें सुरक्षा के लिए पश्चिम के शक्तिशाली देशों की तरफ देखने की जरूरत महसूस होने लगी।

यही नहीं, भारत पर भी चीन का अतिक्रमण इसीलिए संभव हुआ क्योंकि तिब्बत पर अधिकार करके चीनी सेना भारतीय सीमा पर आ गई। अन्यथा पड़ोसी होते हुए भी भारत और चीन की सीमाएं कभी नहीं मिलती थी और इसीलिए कभी चीन और भारत के बीच कोई विवाद या कटुता भी नहीं रही थी। किंतु तिब्बत के नक्शे से गायब होते ही सब कुछ बदल गया। महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य की स्थापना पुन: सत्य सिद्ध हुई कि यदि दो बड़े राष्ट्रों की सीमाएं मिलती हों तो वे कभी स्थाई मित्र नहीं हो सकते। पिछली आधी शताब्दी का भारत-चीन संबंधों का इतिहास इसकी पुष्टि करता है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि भारत और चीन के बीच सम्बन्धों में कटुता तिब्बत के कारण ही आई। अर्थात् 1959 में दलाई लामा और उनके हजारों अनुयायियों को भारत में शरण देने के कारण दोनों देशों के बीच संदेह और अविश्वास पैदा हुआ। किंतु यह सत्य से बहुत दूर है। लद्दाख क्षेत्र में चीन की घुसपैठ और अक्सई चिन में गुप्त रूप से सैन्य मार्ग का निर्माण चीन ने इससे बहुत पहले किया था और छलपूर्वक किया था क्योंकि, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, उस समय तो भारत में भारत-चीन मैत्री के नारे हवा में गूँजते रहते थे। चीनी शासकों ने मात्र प्रचार के लिए तिब्बतियों को भारत में शरण देने का बहाना इस्तेमाल किया। वह भी बहुत बाद में। अन्यथा वे कह सकते थे कि यदि भारत तिब्बती शरणार्थियों को बहिष्कृत कर दे तो वे भारत की हथियाई भूमि वापस कर देंगे और कश्मीर तथा अरूणाचल प्रदेश को भारत का अभिन्न अंग मान लेंगे। इसलिए तिब्बत तो बहाना था, चीनियों का मूल उद्देश्य यह दिखाना था कि एशिया में भारत कोई चीज नहीं है।

पिछले वर्ष ऐसे कई रहस्योद्घाटन हुए कि चीनी सेनाएं अकसर चोरी-छिपे अरूणाचल प्रदेश की सीमाओं में घुस आती हैं। भारत सरकार इन समाचारों को छिपाकर भारत-चीन सम्बंधो में सुधार के दावे करती रही है। परन्तु तथ्य यह है कि चीन की कथनी और करनी में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है: 'परोक्षे कार्य हन्तारम्, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्'।

इसलिए भारतवासियों के लिए यह एक प्रमाणिक सत्य है कि तिब्बत के स्वतंत्र अस्तित्व ने ही चीन को हमेशा इस बात से रोका कि वह अन्य दक्षिण एशियाई देशों का अतिक्रमण करे। तिब्बत की पराधीनता ने ही चीन को इस योग्य बना दिया कि वह एशिया और संसार की छत पर अपने को खड़ा पाता है और पड़ोसी देशों के लिए दुष्चक्र रचता है।

आज दुनिया की अधिकांश सरकारें तिब्बत को चीन का अंग मानती हैं। पर इसका उत्तर नहीं देती कि आखिर किस आधार पर तिब्बत चीन का हिस्सा बना है? इसे मात्र एक स्वयंसिद्ध के रूप में मान लिया गया है कि 'तिब्बत चीन का एक अंग है'। और चूँकि सरकारें ऐसा मानती हैं तो कुछ लोगों के लिए यही तर्क और तथ्य हो जाता है। लगभग यही स्थिति पूर्व सोवियत संघ में बाल्कन राज्यों की थी। पर सरकारों द्वारा दी गई मान्यताएं राजनीतिक कारणों से दी जाती हैं। स्वयं लाल चीन को दो दशक तक यूरोप और अमरीका द्वारा कोई मान्यता नहीं मिली थी। ताइवान को ही चीन का प्रतिनिधि माना जाता था। इसलिए तिब्बत को बलात् चीन के कब्जे में रखे रहने मात्र से उसे वैधता नहीं मिल गई है। तिब्बत का प्रश्न अभी भी एक जीवित प्रश्न है।

काल की गति में बड़े-बड़े साम्राज्य कलवित हो जाते हैं। भारत पर अंग्रेजी शासन दो सौ वर्ष रहा, फिर भी भारत स्वाधीन हुआ। यदि किसी जनता में अपना निर्णय स्वयं करने की अदम्य चाह हो जिसके लिए वह कोई भी बलिदान करने के लिए तैयार रहे, तब उसे दबाए रखना असंभव है। इस संदर्भ में हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की विरासत उल्लेखनीय है। उन्होंने सिर्फ एक सरल सा व्रत लिया था: सच्चाई के मार्ग से कभी विचलित न होना। इससे उन्होंने उस विराट् आत्मबल का संचार किया जिससे इस सदी का सबसे बड़ा अहिंसक परन्तु शक्तिशाली जन आंदोलन निर्मित हुआ। प्राय: गाँधी जी की अहिंसा को बड़े सतही तरीके से देखा जाता है। पर गाँधी जी की अहिंसा में कर्मयोग अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। किसी भी समस्या के संदर्भ में वह अपनी ओर देखते थे कि वह स्वयं क्या कर सकते हैं। उनकी अहिंसा और सत्य रचनात्मक थे, नकारात्मक नहीं। वह किसी गलत बात, किसी अन्याय पर आलोचना और शिकायत कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मानते थे। उसे ठीक करने के लिए गाँधी जी स्वयं कोई कदम उठाते थे, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो। इसीलिए उन्होंने जोर दिया था कि अहिंसा वास्तविक तभी है जब मन-वचन-कर्म में उसका पालन किया जाए। इस रूप में अहिंसा वह शक्ति है जो अत्यंत संहारकारी अस्त्रों से भी ज्यादा शक्तिशाली है।

गाँधी जी के कर्मयोग का यही वह संदर्भ है जो आज भारत और तिब्बत, दोनों के लिए सामयिक है। भारत के लिए हताशा और चीन के लिए निंदा न तो राष्ट्रीय सुरक्षा की

गारंटी है, न ही तिब्बत के साथ न्याय। जहाँ प्रवासी तिब्बती समुदाय को अपनी याचकवृत्ति त्यागनी चाहिए वहीं तिब्बत की स्वाधीनता या - जैसा कि दलाई लामा चाहते हैं - वास्तविक स्वायत्तता के लिए सहयोग भारतीय विदेश नीति का एक सरोकार होना चाहिए।

प्रस्तुत संकलन इसी भावना को संप्रेषित करने के उद्देश्य से तैयार किया गया है। निबंधों का चयन और उन्हें दिया गया क्रम भारत-चीन सम्बंध और तिब्बत के जटिल यथार्थ के बारे में हिन्दी पाठकों को मात्र सुसंगत रूप से परिचित कराने के लिए ही है। लेखों को जरूरत की दृष्टि से छोटा और संपादित किया गया है। हम सभी विद्वान लेखकों और प्रकाशनों के बहुत आभारी हैं जिनके लेख इस संकलन में लिए गए हैं। इस पूरे प्रयास में जो भी प्रशंसनीय है उसका श्रेय आप सबों को है।

शंकर शरण
प्रेस सूचना अधिकारी

मार्च 1998

भाग एक

अतीत

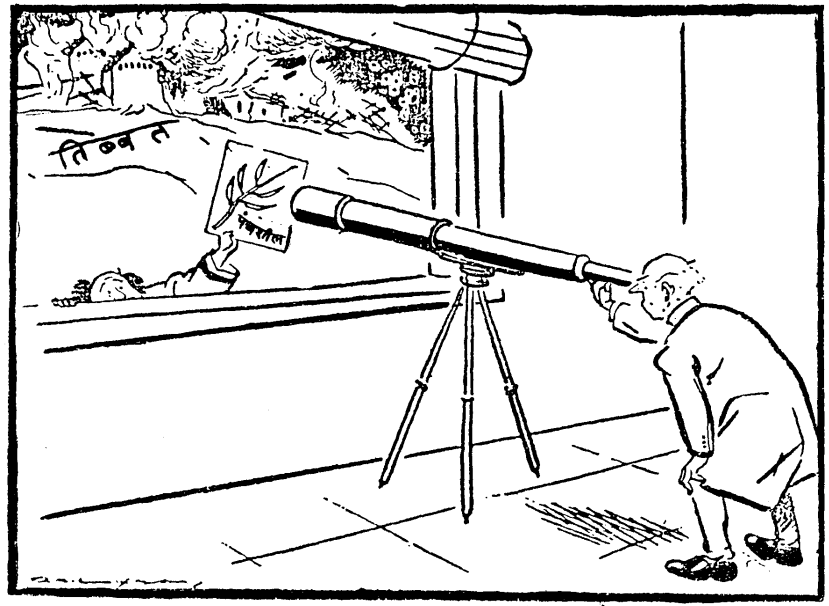

blank

तिब्बत में भारत की विफलता

गिरिलाल जैन

चीन में [1 अक्तूबर 1947 को] कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के साथ, मास्को और पीकिंग के बीच सहयोग एक तय बात ही थी। इस प्रकार जो डर इस शताब्दी की शुरूआत में लार्ड कर्जन को घेरे हुए था, वह सच साबित हो गया। भारत के लिए अब यह पहले से बहुत ज्यादा आवश्यक हो गया था कि उसके और चीन-सोवियत गठबंधन के बीच तिब्बत का एक 'बफर' राज्य की तरह संरक्षण किया जाए। एक नवजात प्रजातंत्र के रूप में भारत को, जिसने सैनिक गठबंधनों से दूर रहने का निर्णय लिया था, शक्तिशाली कम्युनिस्ट राज्यों के विनाशकारी प्रभाव से सुरक्षा चाहिए थी। अत: अपने बूते की हरेक संभव कोशिश से तिब्बत की स्वतंत्रता की रक्षा भारत सरकार के लिए मानो परम धर्म का विषय होना चाहिए था।

यह विवाद का विषय नहीं है कि चीनी सैनिकों को पीछे धकेल सकने की क्षमता भारतीय सेना के पास नहीं थी – जब उन्होंने तिब्बत में घुसना प्रारंभ कर दिया। उसी समय कश्मीर में पंद्रह महीनों की लड़ाई के बाद 1 जनवरी 1949 को पाकिस्तान के साथ युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। देश की सामान्य आतंरिक स्थिति भी बिगड़ी हुई थी। देश की कमजोर स्थिति दर्शाने वाले इन कुछ कारकों के बावजूद यह सच है कि उस समय चीनी खतरे की प्रकृति और आकार का पर्याप्त आकलन नहीं किया गया था।

चीनी कम्युनिस्टों ने भारत के प्रति अपनी दुश्मनी और तिब्बत को हड़पने के अपने इरादों के बारे में भारत को संदेह में नहीं रखा था। फिर भी भारत सरकार ने बहुत ही ढुलमुल और अटक-अटक कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। यदि तिब्बत चीन के कब्जे में चला जाता है तो उस स्थिति में अपनी हिमालय सीमा को सुरक्षित करने की चिंता से भारत सरकार ने सीमा पार के राज्यों – भूटान, सिक्किम और नेपाल से नई संधियाँ की। साथ ही नेपाल में राणा शाही के शासन के उदारीकरण के लिए भी प्रयास किए। इससे स्पष्ट है कि इस प्रारम्भिक अवस्था में ही सुरक्षा व्यवस्था की रक्षक दीवार (तिब्बत) चीन को कमोबेश लिख देने का निर्णय दिल्ली में लिया जा चुका था।

चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद ही राष्ट्रपति ट्रूमैन के आमंत्रण पर पंडित नेहरू ने अमेरिका की यात्रा की। यह संदेहास्पद है कि पंडित नेहरू ने बातचीत में अपनी तरफ से उन खतरों और सुरक्षा समस्याओं का जिक्र तक भी किया या नहीं जो भारत के सामने तिब्बत पर चीन के अधिकार के बाद आने वाले थे। उस समय अमरीकी प्रेस ऐसी

रिपोर्टों और अग्रलेखों से भरी पड़ी थीं जिसमें एशिया में प्रजातंत्र के रक्षक के रूप में भारत के महत्व की चर्चा की जा रही थी। यह विवाद का विषय है कि एशिया में कम्युनिस्टों के लिए भारत के रूप में चेतावनी खड़ी करने की अमेरिकी नीति इच्छित उद्देश्य के उपयुक्त थी या नहीं। **अमेरिकी स्थिति की कमजोरियाँ जैसे, सैनिक तरीके पर उसका अत्यधिक जोर तथा चीन को मान्यता देने में उसकी अनिच्छा आदि की चर्चा तो बराबर की जाती है लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत ने कोई स्पष्ट, सुविचारित वैकल्पिक नीति पेश ही नहीं की। नेहरू जी ने एशिया में राष्ट्रवादी उभार और चीन की कम्युनिस्ट क्रांति का लगभग घालमेल कर दिया। यदि कुछ हुआ तो वह यह कि भारत और अमेरिका के बीच इस दौरे के बाद संबंध और कड़वे हो गए।**

जैसा कि होना ही था, तिब्बत के ऊपर खतरा बढ़ता गया। जनवरी 1950 की शुरूआत में, भारत द्वारा नयी चीनी सरकार को मान्यता देने के कुछ ही दिनों के अंदर वहाँ के उप-सभापति मार्शल चू तेह ने ''तिब्बत को मुक्त कराने'' की योजना की घोषणा कर दी। मार्च 1950 में चीनियों ने ल्हासा के प्राचीन, पारम्परिक द्वार ताचिएनलू को अपने कब्जे में कर लिया। कई हजार मजदूरों को तिब्बत जाने वाली सड़कों की मरम्मत पर लगा दिया गया। सीमा पर चीन की आधुनिक हथियारों से सुसज्जित विशाल सेना और छोटी, अप्रशिक्षित और मामूली हथियारों के साथ तिब्बती टुकड़ियों के बीच, जिसका नेतृत्व युद्ध से बिल्कुल अनजान अफसर कर रहे थे, झड़पें होने लगीं। मई 1950 में पीकिंग रेडियो ने दलाईलामा को ''तिब्बत की शांतिपूर्ण मुक्ति'' को स्वीकार कर लेने को कहा। आखिरकार जून 1950 में खुद माओत्सेतुंग ने तिब्बत पर किये जाने वाले स्पष्ट आक्रमण की घोषणा की।

तिब्बत की सीमाओं पर चीनी सेना के भारी जमावड़े के बावजूद पीकिंग सरकार के आश्वासनों पर भारत सरकार अपने आप को छलती रही कि चीन तिब्बत मामले को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करेगा। कम्युनिस्ट हथकंडों से वाकिफ और चीनी-तिब्बत संबंधों की थोड़ी सी भी जानकारी रखने वाले व्यक्ति के लिए यह बिल्कुल स्पष्ट था कि पीकिंग तिब्बतियों को दो में से एक विकल्प चुनने के लिए मजबूर कर रहा है - या तो सैनिक आक्रमण द्वारा चीनी आधिपत्य या शांतिपूर्वक समर्पण। **यह विचारणीय है कि यदि नई दिल्ली ने चीनी शासकों को स्पष्ट बता दिया होता कि तिब्बत और चीन के बीच स्थित संबंधों को बदलने का कोई ठोस कारण नहीं है, तो क्या होता ? उस समय और उसके बाद भी भारत सरकार ने बड़ी झिझक से स्वीकार किया कि उत्तर में देश की सुरक्षा तिब्बत की स्वतंत्रता नहीं तो, कम से कम स्वशासी देश के रूप में उसके बचे रहने से भी जुड़ी हुई है।**

जून में कोरिया का युद्ध शुरू हुआ। शुरू-शुरू में भारत ने इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया कि उत्तर कोरिया आक्रमणकारी था। लेकिन शीघ्र ही नेहरू ने अपने विचार बदल लिए

और उन्होंने अपने तथा अपने देश के लिए मध्यस्थ की भूमिका चुन ली। चूँकि यह स्पष्ट था कि उत्तरी कोरियाई सरकार ने पीकिंग और मास्को की सहमति से ही यह आक्रमण किया था, नई दिल्ली को (मध्यस्थ होने के योग्य) विश्वास जीतने के लिए अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज़्म के इन नेताओं से संपर्क बढ़ाने पड़े। **स्टालिन ने नेहरू की इस सोच को बढ़ावा दिया कि कोरिया में युद्ध का शांतिपूर्ण समझौता कराने के लिए वही सबसे उपयुक्त हैं। यहाँ से भारतीय विदेश नीति में आत्म छलना की शुरूआत हुई। ''शांतिनिर्माता'' की नई-नई भूमिका के नये-नये उल्लास में भारतीय नेताओं ने तिब्बत की घटनाओं की उपेक्षा कर दी। नई दिल्ली ने इस संभावना के बारे में सोचा ही नहीं कि कोरिया में युद्ध और तिब्बत पर प्रस्तावित आक्रमण अन्य एशियाई भू-भागों में कम्युनिज्म फैलाने की सोची समझी साजिश का भी हिस्सा हो सकती है।**

अब तक तिब्बती नेताओं की बाहर से समर्थन पाने की सारी उम्मीदें टूट चुकी थीं। भारत, जिसे सबसे ज्यादा चिन्ता होनी चाहिए थी, द्वारा तिब्बत के समर्थन में सहमति जुटाने के किसी भी सक्रिय प्रयास के अभाव में विश्व की बड़ी शक्तियों ने भी इस अभागे राष्ट्र से मुँह फेर लेना ही ज्यादा सुविधाजनक समझा। तिब्बती नेता जानते थे कि चीन के साथ सैनिक संघर्ष में उनके बच पाने की कोई संभावना नहीं है। एक तिब्बती प्रतिनिधि मंडल ने जो उस समय भारत में था, बातचीत द्वारा समझौते की कोशिश के लिए भारत में नये चीनी राजदूत से वार्ता आरंभ की। इस प्रतिनिधि मंडल के पीकिंग जाने में कई कारणों से देर हुई। इस बीच 7 अक्टूबर 1950 को चीनियों ने तिब्बत पर पूरी ताकत के साथ आक्रमण कर दिया। तिब्बती मौसम के अभ्यस्त हो चुके चालीस हजार चीनी सैनिकों ने उस दिन पूर्वी सीमा पार की। 25 अक्टूबर 1950 के पहले भारत सरकार को यह जानकारी ही नहीं थी कि तिब्बत पर आक्रमण भी किया गया है, और उसे पता भी चला तो पीकिंग रेडियो की आधिकारिक घोषणा से ही। चीनी सेनाएं तब तक ल्हासा के रास्ते पर चमदो और लोदजोंग पर कब्जा कर चुकी थीं।

लगता है कि अक्टूबर 1950 के दूसरे हफ्ते तक भारत सरकार को यह महसूस होने लगा था कि तिब्बत पर आक्रमण शीघ्र ही होगा। यही कारण था कि इसने 21 अक्टूबर 1950 को पीकिंग से संपर्क किया। लेकिन इस संपर्क में सरकार के द्वारा सबसे कमजोर रास्ता अपनाया गया। इसने कहा कि तिब्बत में सैनिक कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र में चीन के प्रवेश की संभावना को प्रभावित करेगी। इसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि तिब्बत मुद्दे का निपटारा चीन का आंतरिक मामला है। इसके अनुसार, ''वे (भारत सरकार) महसूस करते हैं कि इस समय किसी भी असावधान कारवाई का उपयोग, भले ही यह कार्रवाई इसके (चीन के) अपने क्षेत्र में हो, सामान्यत: तटस्थ राष्ट्रों के सामने तथा संयुक्त राष्ट्र में चीन के प्रवेश को रोकने में किया जा सकता है।'' यह तर्क ब्रिटिश नीति और शिमला सम्मेलन

की नीतियों से दूर होता दिख रहा था। **ब्रिटिश सरकार ने यह कभी नहीं माना था कि चीन को किसी भी विवाद को सुलझाने के लिए तिब्बत में सेना भेजने का अधिकार है। और बाहरी तिब्बत पर चीन का अधिपतित्व तो केवल नाम का था।**

भारत सरकार ने अपनी टिप्पणी में कहा था कि उसे यह पूर्ण विश्वास है कि चीन का संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश ''शांतिपूर्ण वातावरण की पुर्नस्थापना'' के लिए जरूरी है। यदि ऐसा था तो चीन के पास भारत के प्रति कृतज्ञता महसूस करने का कोई कारण नहीं था, जो संयुक्त राष्ट्र में उसके प्रवेश की वकालत कर रहा था। चीन द्वारा कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की सेना से युद्ध करने का निर्णय 1 नवम्बर को सार्वजनिक हो चुका था। तब तक कोरिया में चीन की मिली-भगत जगजाहिर हो चुकी थी। स्पष्टत: इस स्थिति में चीन संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश के लिए बहुत चिंतित नहीं हो सकता था। भारत तब तक कोरिया में चीन के इरादों के बारे में जान चुका था।

आक्रमण के संबंध में जानकारी मिलने पर भारत सरकार ने 26 अक्टूबर को फिर एक पत्र पीकिंग भेजा। जिसमें कहा गया था, ''हमें लगातार चीनी सरकार की इच्छा के बारे में आश्वासन मिलते रहे कि वह तिब्बत समस्या का बातचीत द्वारा और शांतिपूर्ण निदान चाहती है।'' 25 अक्टूबर को शांतिपूर्ण समाधान की बातचीन के लिए तिब्बती प्रतिनिधि मंडल चीन के लिए जा चुका था। ''इन तथ्यों के आलोक में तिब्बत में चीनी सेनाओं को आगे बढ़ने का आदेश देना, हमारे लिए बहुत आश्चर्यजनक और खेदपूर्ण है।''

भारत सरकार ने अपने पत्र में उन परिस्थितियों का जिक्र किया था, जिससे तिब्बती प्रतिनिधि मंडल को पीकिंग जाने में विलंब हुआ था। विलम्ब का पहला कारण हांगकांग से वीसा का नहीं पहुँचना था। दूसरा कारण स्वयं चीन का यह कहना कि प्रारंभिक बातचीत चीनी राजदूत और तिब्बती प्रतिनिधि मंडल के बीच दिल्ली में ही हो। और आखिरकार, तिब्बतियों को दूसरी सरकारों से बातचीत करने का कोई अनुभव नहीं था, इसलिए उन्हें अपनी सरकार से बार-बार निर्देश लेने पड़े और फिर सरकार को विधान सभा से संपर्क करना पड़ता था। भारत सरकार ने इस संभावना से इंकार किया कि दिल्ली में चीन विरोधी विदेशी शक्तियों ने प्रतिनिधिमंडल के प्रस्थान में व्यवधान डाला। भाषा पहले संपर्क से कुछ अवश्य कठोर थी, लेकिन फिर भी इस बात का संकेत नहीं देती थी कि भारत तिब्बत की स्वतंत्रता के मुद्दे को उठाने के लिए तैयार है। यही कहानी 1959 में भी दुहराई गई।

30 अक्टूबर के भेजे गए चीनी जवाब ने इसमें संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी कि कम्युनिस्ट शासकों ने किसी भी समय भारत सरकार की सदिच्छाओं को स्वीकार नहीं किया था। चीन का कहना था ''यह पूरी तरह से चीन का घरेलू मामला है। *चीनी लोक*

मुक्ति सेना को तिब्बती लोगों को आजाद करने और अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए तिब्बत में प्रवेश करना ही चाहिए [जोर लेखक का] *।''* **चीन की सीमाओं की सुरक्षा की आवश्यकता तभी हो सकती थी जब भारत पर संदेह किया जा रहा हो।** भारत सरकार के स्पष्टीकरण के बावजूद इसमें आरोप लगाया गया था कि तिब्बती प्रतिनिधिमंडल को नई दिल्ली में रोकने के लिए विदेशी साजिश जिम्मेवार थी। साफतौर पर यह आरोप भारत को ही लक्ष्य कर लगाया गया था। इसमें चेतावनी भी दी गई थी - ''तिब्बत में कोई भी विदेशी प्रभाव सहन नही किया जायेगा।'' पीकिंग को संयुक्त राष्ट्र में चीन के प्रवेश पर भारत के तर्क को ध्वस्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि इसमें और तिब्बत मुद्दे के बीच कोई संबंध नहीं है।

भारत सरकार के मित्रता संबंधी सभी भ्रम तोड़ते हुए, चीनी सरकार ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया, ''अत: तिब्बत के बारे में भारत के दृष्टिकोण को चीनी जनवादी गणतंत्र की सरकार और कुछ नहीं समझ सकती सिवाय इसके कि यह तिब्बत में चीन की शत्रु विदेशी ताकतों से प्रभावित है, और इसके लिए चीन को गहरा खेद है।'' **यह एक छिपा तरीका था यह कहने का कि भारत अब भी साम्राज्यवादी शक्तियों से प्रभावित और अभी भी उनका एक उपनिवेश ही है। पीकिंग रेडियो द्वारा लगाये गये इस आरोप को कि ''पंडित नेहरू ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक दौड़ता कुत्ता है'' को भी इसी संदर्भ में लिया जाना चाहिए।**

भारत सरकार ने इन बातों पर तीखी प्रतिक्रिया जाहिर की और 1 नवम्बर 1950 के अपने पत्र में इन पर विरोध व्यक्त किया। इसमें कहा गया था कि भारत की नीतियाँ स्वतंत्र हैं और ''केवल अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल, और किसी भी ऐसी स्थिति को दूर करने की ओर लक्षित हैं जो विश्व में तनाव बढ़ाती है।'' इसमें इस बात से दृढ़तापूर्वक इन्कार किया गया कि तिब्बती प्रतिनिधिमंडल भारत में किसी विदेशी प्रभाव द्वारा रोका गया था। इसमें यह भी कहा गया ''हमारी हस्तक्षेप करने या लाभ पाने की कोई इच्छा नहीं है। भारत सरकार गंभीरता से सिर्फ यह चाहती थी कि तिब्बत समस्या का हल शांतिपूर्ण बातचीत से हो - चीनी अधिपतित्व में तिब्बतियों के स्वशासन के जायज हक को ध्यान में रखते हुए। भारत सरकार की बार बार दुहराई गई यह सलाह, कि तिब्बत पर चीनी अधिपतित्व और तिब्बती स्वशासन का मेल शान्तिपूर्ण बातचीत से हो, चीन के आंतरिक मामलों में भारत का अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं है जैसा कि चीनी सरकार कहती है। यह मात्र एक दोस्ताना सरकार की सही सलाह थी, जिसे अपने पड़ोसियों की समस्याओं के शांतिपूर्ण हल में स्वाभाविक रूचि है।'' इस पत्र में इस बात पर जोर दिया गया कि ''तिब्बतियों पर किसी भी अशांतिपूर्ण तरीके को बढ़ावा देने या अपनाने का कोई आरोप नहीं है इसलिए उनके विरूद्ध ऐसी किसी भी सैनिक कारवाई का कोई औचित्य नहीं हैं। अपना निर्णय बलपूर्वक मनवाने के इस कदम से शांतिपूर्ण समझौते द्वारा समस्या का हल करने का कोई तालमेल

नहीं बिठाया जा सकता।'' पत्र में यह भी कहा गया – ''भारत सरकार ने यह बार-बार स्पष्ट किया है कि तिब्बत में उसकी न तो राजनीतिक या क्षेत्रीय आकांक्षा है न ही अन्य किसी लाभ की चाह है। लेकिन कुछ ऐसे अधिकार परम्परा और समझौतों से स्वत: बन गए हैं जो कि नजदीकी सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध रखने वाले पड़ोसियों के बीच होना स्वाभाविक है।'' इसने अपनी चीन से मित्रता की नीति पर फिर से जोर दिया और चिंता व्यक्त की कि ''तिब्बत में हाल की घटनाओं ने इस मैत्री संबंध के साथ-साथ पूरे विश्व में शांति के हितों को भी प्रभावित किया है।''

पत्र का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर पता चलता है कि यह विरोधाभासों से भरा पड़ा है। **यदि तिब्बतियों ने कोई बढ़ावा नहीं दिया और वे स्वशासन के अधिकारी थे ही, तो फिर पीकिंग और उनके बीच शान्तिपूर्ण या किसी भी तरह के नये समझौते या समाधान का प्रश्न ही नहीं उठता था। और यदि भारत के पास कुछ अधिकार व्यवहार और समझौतों से मिले हुए थे, तो उसे पूरा अधिकार था कि वह उनका बचाव करे। उसी प्रकार, भारत सरकार चीन के साथ अपनी मित्रता की नीति पर कायम रहने और चीन द्वारा तिब्बत पर अपना निर्णय बलपूर्वक लादने के तथ्य का ताल-मेल नहीं बिठा सकती थी। पत्र का सामान्य स्वर विरोधाभासों से भरा था। बिना किसी उकसावे के आक्रमण के भुक्त-भोगी की मदद की इच्छा का कोई स्वर उसमें नहीं था। भारत अपने पलायन को साहस भरे शब्दों की मोटी दीवार से ढँकने की कोशिश कर रहा था।**

चीनियों ने इस पत्र का जवाब देने में पंद्रह दिन लगाये। 16 नवम्बर 1950 को दिये गए अपने जवाब में चीन ने भारत की कड़ी आलोचना की। उसने इस दावे को दुहराया कि तिब्बत चूँकि चीन का एक अंग है, यह चीन का घरेलू मामला है। इस पत्र में यह भी कहा गया, ''चीनी लोक राजनीतिक विचार कांफ्रेस के अनुसार देश के अंदर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को दी गई स्वायत्तता, चीनी प्रभुसत्ता की सीमाओं के अंदर है। इस तथ्य को भारत सरकार द्वारा इस वर्ष 26 अक्टूबर को भेजे स्मरणपत्र में भी माना गया है। पर जब चीनी सरकार ने वास्तव में अपने सार्वभौमिक अधिकारों का प्रयोग किया और तिब्बत की क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा धार्मिक स्वतंत्रता निश्चित करने तथा बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा के लिए विदेशी ताकतों और प्रभावों को बाहर निकालना शुरू कर तिब्बती लोगों को मुक्त करना शुरू किया तो भारत सरकार ने चीनी सरकार के तिब्बत में अपने सार्वभौमिक अधिकारों के प्रयोग को रोकने और प्रभावित करने की कोशिश की।'' इस आरोप को कि तिब्बती प्रतिनिधि मंडल के पीकिंग प्रस्थान को रोकने की कोशिश की गई थी, फिर दुहराया गया। चीनी इससे और अधिक स्पष्ट नहीं कह सकते थे कि वे तिब्बत की स्वायत्तता को क्या समझते थे। तिब्बत की स्वायत्तता को वर्तमान स्थिति या ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं होना था। इसे चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सामान्य कार्यक्रम में तय की गई शर्तों तक सीमित रहना था और

अंत में समाप्त हो जाना था।

चीनी पत्र के अनुसार, ''31 अगस्त 1950 को चीनी विदेश मंत्रालय ने भारत सरकार को उसके पीकिंग स्थित राजदूत पनिक्कर के माध्यम से जानकारी दे दी थी कि चीनी जन-मुक्ति सेना शीघ्र ही पश्चिमी सिनकियांग में निश्चित कार्यक्रम के अनुसार कार्रवाई करने जा रही है और आशा जाहिर की थी कि भारत सरकार तिब्बत के स्थानीय आधिकारिक प्रतिनिधि मंडल को मध्य सितम्बर में शांति समझौतों पर बातचीत करने के लिए पीकिंग आने में मदद करेगी।'' इसमें और पहले के चीनी पत्र में कहा गया था कि स्थानीय तिब्बत सरकार समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाना चाहे अथवा नहीं, परन्तु किसी भी विदेशी हस्तक्षेप की इजाजत नहीं दी जायेगी।

नवम्बर 1950 के अन्त में भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा कि 26 अगस्त 1950 के भारतीय स्मार-पत्र *(aide memoire)* में ''चीनी संप्रभुता के अन्तर्गत स्वायत्तता'' का अर्थ ''चीनी अधिपतित्व के ढांचे के अन्तर्गत स्वायत्तता'' के अलावा कुछ नहीं था। स्पष्टत: यह एक बेकार और अमान्य स्थिति थी। **उस स्मार पत्र में ''अधिपतित्व'' शब्द के स्थान पर ''संप्रभुता'' के उपयोग के लिए कौन जिम्मेदार था, इसका स्पष्टीकरण कभी आधिकारिक रूप से नहीं किया गया। लेकिन श्री पनिक्कर पीकिंग में भारत का प्रतिनिधित्व करते रहे।** उन्हें एक सफल राजदूत माना गया था, शायद इसलिए कि वे कोरिया से संबंधित मुद्दे पर चीन के विश्वासपात्र हो गए थे।

16 नवंबर 1950 के चीनी पत्र के बाद, जहाँ तक तिब्बत का सवाल था, भारत चुप्पी साध गया। 25 नवम्बर 1959 को संसद में पं. नेहरू के भाषण से ऐसा लगता है कि 1951 में चीनी प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई से तिब्बत में भारतीय हितों के संरक्षण के संबंध में उन्हें कुछ आश्वासन मिले थे। लेकिन इसमें अब कोई संदेह नहीं रह गया था कि भारत की इच्छा तिब्बतियों को उनकी स्वतंत्रता की रक्षा में मदद करने की नहीं थी।

तिब्बती समर्थन के लिए संयुक्त राष्ट्र के पास पहुँचे। 7 नवंबर 1950 को कलिम्पोंग में तिब्बती प्रतिनिधि मंडल ने ल्हासा से निर्देश प्राप्त होने पर संयुक्त राष्ट्र महासभा के अध्यक्ष को यह शिकायत करते हुए एक तार भेजा कि ''तिब्बत में सैनिक घुसपैठ उसे चीनी कम्युनिज्म के शिकंजे में बलपूर्वक शामिल करने के लिए आक्रमण का एक स्पष्ट मामला है।'' इस शिकायत ने इस दावे को खारिज कर दिया कि तिब्बत हमेशा से चीन का एक हिस्सा रहा है।

सभी बड़ी शक्तियाँ तिब्बती शिकायत पर चुप सी थीं। अल सल्वाडोर, एक छोटे लातिन-अमेरिकी देश, ने यह अनुरोध किया कि इस मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र की महासभा के

विचारार्थ रखा जाय। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने संचालन समिति को, जिसे यह निर्णय करना था कि मुद्दे को महासभा में बहस के लिए पेश किया जाय या नहीं, कहा कि तिब्बत की वैधानिक स्थिति स्पष्ट नहीं है। और यह भी कि वहाँ घट रही घटनाओं के बारे में जानकारी नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव रखा कि इस शिकायत पर निर्णय स्थगित रखा जाय। यह पता नहीं कि वैधानिक स्थिति अपनाने का यह ब्रिटिश निर्णय कितना हांगकांग पर अपना नियंत्रण बनाए रखने और कितना भारत सरकार को एक फूहड़ स्थिति में न डालने की इच्छा से प्रेरित था।

भारतीय प्रतिनिधि ने ब्रिटिश दृष्टिकोण का समर्थन किया। उसने 25 नवंबर 1950 को कहा, ''पीकिंग सरकार ने भारत सरकार को भेजे गये सबसे हाल के पत्र में कहा है कि उन्होंने समस्या के शांतिपूर्ण हल की इच्छा को खत्म नहीं किया है।'' इस बयान को एक सनक के अलावा और क्या कहा जा सकता है! निस्संदेह भारत ने तिब्बत चीन को दान कर दिया था। रूसी प्रतिनिधि ने भी ब्रिटिश प्रस्ताव का समर्थन किया और चीनी दावे का भी कि तिब्बत चीन का घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्र को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं हैं। राष्ट्रवादी (ताइवान के) चीनी प्रतिनिधि ने दावा किया कि तिब्बत कई सौ वर्षों से चीन का भाग रहा है।

कलिम्पोंग से तिब्बती प्रतिनिधि मंडल ने संयुक्त राष्ट्र को कई अधीर संदेश भेजे। यह जानते हुए कि चीनी सेना का विरोध करने की कोई भी कार्यवाही बेकार है और कहीं से कोई कूटनीतिक समर्थन तक मिलने की आशा नहीं है, दलाई लामा ने अपने मंत्रियों की सलाह पर 1 दिसम्बर को ल्हासा छोड़ दिया। 16 दिसम्बर 1950 को वे ग्यानत्से पहुंचे और वहाँ से वे भारतीय सीमा पर यातुंग की तरफ बढ़े। प्रत्यक्ष रूप से तिब्बती नेताओं और मंत्रियों ने स्थिति का पुनर्निरीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि उनके पास कोई उपाय नहीं है सिवा इसके कि चीन से ही कुछ रियायत की बात की जाय। उन्होंने पीकिंग से वार्ता शुरू करने का निर्णय लिया। अप्रैल 1951 के अंत में एक तिब्बती प्रतिनिधि मंडल पीकिंग पहुँचा। 23 मई 1951 को 17 सूत्री समझौते पर दस्तखत हो गये।

यह तिब्बत-चीन समझौता एक मजबूरी थी, जिसने दोनों में से किसी पक्ष को संतुष्ट नहीं किया। तिब्बतियों ने समझौते पर बाध्य होकर हस्ताक्षर किये थे। एक निरूपाय, नि:शस्त्र देश के रूप में, जिसके पास बाहरी विश्व से समर्थन की कोई आशा नहीं थी, उन्हें समर्पण और संपूर्ण विनाश के बीच ही कुछ चुनना था। दूसरी तरफ चीनी शासकों ने तिब्बती भावनाओं और संवेदनाओं पर कुछ रियायतें दे दीं, जो उनकी दूरगामी योजना का एक हिस्सा था। उन्हें विश्वास था कि कुछ समय में वे तिब्बती लोगों को तोड़ने और उनके विरोध को खत्म करने में सफल हो जायेंगे। कोरियाई युद्ध में शामिल होने के बाद चीन के

लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह तिब्बत मामले को जल्द शांत करने की कोशिश करे। उस समय चीन का वास्तविक उद्देश्य था, तिब्बत पर कब्जा सुनिश्चित कर भारतीय सीमा पर अपने सैनिक तैनात कर देना। इस समझौते से ये दोनों उद्देश्य पूरे होते थे।

कम्युनिस्टों के रूप में, जो प्रशासन की सबसे केन्द्रीकृत प्रणाली में विश्वास रखते हैं और ''जनता की अफीम'' मानते हुए धर्म का तिरस्कार करते हैं, चीनी शासक इसके प्रति ईमानदार नहीं हो सकते थे कि ''केन्द्रीय सत्ता तिब्बत में वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को नहीं बदलेगी। केन्द्रीय सत्ता दलाई लामा के मान्य पद, कार्य और शक्तियों को भी नहीं बदलेगी। विभिन्न पदों के पदाधिकारी पहले की तरह कार्य करते रहेंगे।'' (धारा-4) इसी प्रकार वे अपने मार्क्सवादी विश्वास में झूठे ही होते यदि वे धारा-7 और धारा-11 के प्रावधानों को सचमुच लागू करना चाहते। धारा-7 में कहा गया था ''तिब्बती जनता के धार्मिक विश्वासों, परम्पराओं और आदतों का आदर किया जायेगा और लामा मठों को सुरक्षित रखा जाएगा। केन्द्रीय सत्ता मठों की आमदनी में कोई बदलाव नहीं लायेगी।''

धारा-11 के अनुसार - ''तिब्बत में विभिन्न सुधारों से जुड़े प्रश्नों पर केन्द्रीय सत्ता की ओर से कोई जबरदस्ती नहीं होगी। तिब्बत की स्थानीय सरकार खुद ही सुधार कार्यक्रम चलाएगी और जब तिब्बती जनता स्वयं सुधारों के लिए माँग करेगी, उन्हें तिब्बत के नेताओं से बातचीत करके तय किया जायेगा।''

चीनी दृष्टिकोण से, समझौते के मुख्य बिन्दु वे थे जो तिब्बत पर चीन के अधिकार को निश्चित करते थे। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण धाराओं में कहा गया था-

(1) तिब्बती जनता एक होकर तिब्बत से साम्राज्यवादी आक्रामक शक्तियों को बाहर निकाल फेंकेगी और मातृभूमि जनवादी चीनी गणतंत्र के बड़े परिवार में लौट आयेगी। (धारा-1)

(2) तिब्बत की स्थानीय सरकार जन-मुक्ति सेना के तिब्बत में प्रवेश करने और राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत करने में सक्रिय सहयोग करेगी। (धारा-2)

(3) तिब्बती सैन्य टुकड़ियों को विभिन्न चरणों में जनमुक्ति सेना में शामिल कर उन्हें चीनी जनवादी गणतंत्र के राष्ट्रीय सुरक्षा बल का हिस्सा बनाया जायेगा। (धारा-8)

(4) केन्द्रीय जनवादी सरकार तिब्बती क्षेत्र के सभी वैदेशिक मामलों पर केन्द्रीय नियंत्रण रखेगी। (धारा-14)

(5) इस समझौते के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए केन्द्रीय जनवादी सरकार तिब्बत में एक सैनिक और प्रशासनिक समिति तथा एक क्षेत्रीय सैनिक मुख्यालय स्थापित करेगी। वहाँ केन्द्रीय जनवादी सरकार द्वारा भेजे अधिकारियों के अतिरिक्त अधिकाधिक संख्या में तिब्बती कर्मचारियों को भी काम में लेने के लिए शामिल किया जायेगा। (धारा-15)

(6) तिब्बत की स्थानीय सरकार खाद्य पदार्थों, चारे और अन्य रोजमर्रे की वस्तुओं की खरीद तथा ढुलाई में जन-मुक्ति सेना की मदद करेगी।

हालाँकि जब तक दलाई लामा की मुहर नहीं लग जाती इस समझौते की तिब्बती जनता के लिए कोई अहमियत नहीं थी। चीनी सरकार इसमें कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं थी और उसने एक नकली मुहर उस पर लगा दी। यह जाली दस्तावेज तबसे उसी के अधिकार में है। हालाँकि दलाई लामा ने 24 अक्टूबर 1951 को माओ-त्से-तुंग से एक मुलाकात में उस समझौते पर अपनी सहमति दे दी, परंतु उसके पूर्व 9 सितम्बर 1951 को ही जन-मुक्ति सेना की अग्रिम टुकड़ियाँ ल्हासा पहुँच चुकी थीं। 10 फरवरी 1952 को ल्हासा में सैनिक क्षेत्रीय मुख्यालय स्थापित कर दिया गया। इस तरह तिब्बती स्वतंत्रता नष्ट हो गयी और चीनी सेना भारतीय सीमा पर स्थापित कर दी गई।

[1960]

चीन की चुनौती हमें स्वीकार है

जवाहर लाल नेहरू

पांच वर्षों से, हम अपनी उत्तरी सीमा पर चीनी हमले के शिकार हो रहे हैं। पहले यह हमला चोरी-छिपे था। कभी-कदात् की उन घटनाओं और मुठभेड़ों को सीमा के मामूली झगड़े कहा जा सकता था। लेकिन आज बड़ी भारी सेना हमारे क्षेत्र पर लगातार हमला कर रही है।

जो चीन अपने को साम्राज्यवाद का विरोधी कहता था और अब भी कहता है, वह आज ऐसा रास्ता अपना रहा है जिसकी मिसाल 18वीं और 19वीं शताब्दी में ही मिल सकती है। उन दिनों यूरोप के शक्तिशाली देशों ने साम्राज्यवादी आक्रमण द्वारा, औद्योगिक क्रान्ति से प्राप्त शक्ति और शस्त्रास्त्रों के बल पर, एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भाग ज़बर्दस्ती हथिया लिये थे। वह साम्राज्यवाद अब मद्धिम पड़ गया है और यूरोपीय देशों के अनेक उपनिवेश स्वतन्त्र हो चुके हैं। परन्तु आश्चर्य है कि साम्राज्यवाद-विरोधी होने का दम भरनेवाली चीन की जनवादी सरकार अब उसी आक्रामक और साम्राज्यवादी विस्तार का रवैया अपना रही है।

यह सोच कर दु:ख होता है कि हमने तो दुनियाभर में शान्ति-स्थापना के लिए कोशिश की और चीन से मित्रता की तथा उसके साथ शिष्टता एवं सद्भाव का बर्ताव किया और दुनिया की परिषदों में उसकी पैरवी की, पर आज हम एक ऐसे देश के नए साम्राज्यवाद और विस्तारवाद का शिकार हो रहे हैं, जो अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी कहता है। इतिहास के इस अजीब मोड़ ने हमारा सामना एक ऐसी बात से करा दिया है, जिसका अनुभव हमें पिछले 100 वर्षों से भी अधिक समय से नहीं हुआ था। हमने यह मान लिया था कि हाल के वर्षों में घटी कुछ घटनाओं के बावजूद - जैसे, स्वेज का मामला - इस प्रकार का हमला विगत काल की वस्तु है। यहाँ तक कि पिछले पांच वर्षों से हमारी सीमा पर जो हमला हो रहा था, वह यद्यपि बुरा था, विस्तारवादी प्रवृत्ति का सूचक था, उससे हमें बहुत तकलीफ पहुँच रही थी, फिर भी हमने नहीं सोचा कि चीन भारत पर इस तरह बड़े पैमाने पर आक्रमण करेगा। अब हमने यह हमला देख लिया है और इसका अनुभव प्राप्त कर लिया है। इससे हमें धक्का पहुंचा है और इसी प्रकार अनेक देशों को पहुंचा है।

इतिहास का नया मोड़

एशिया के और सम्भवत: पूरी दुनिया के इतिहास ने एक नया मोड़ लिया है, और हमें

अपनी स्वतन्त्रता और अखण्डता पर हुए इस हमले का पूरी ताकत से मुकाबला करना होगा। इससे न केवल हमारे लिए खतरा पैदा हुआ है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय सद्व्यवहार पर भी इससे चोट पहुँची है, और सारी दुनिया पर इसका असर पड़ा है। कोई भी स्वाभिमानी देश, जो अपनी स्वतन्त्रता और अखण्डता से प्रेम करता है, इस चुनौती के आगे घुटने नहीं टेक सकता। निस्सन्देह, हमारा यह प्यारा देश भारत भी अपना सिर कभी नहीं झुकाएगा, चाहे कुछ भी हो। हम इस चुनौती को इसके सारे नतीजों के साथ स्वीकार करते हैं।

सम्भव है, यह चुनौती हमारे लिए एक अच्छा मौका साबित हो। वास्तव में, भारत के करोड़ों लोगों ने दिखा दिया है कि वे इस चुनौती को स्वीकार करते हैं; उन्होंने ऐसी एकता और उत्साह दिखाया है, जो बहुत कम देखने में आता है। एक संकट सामने आया है, हम उसका मुकाबला करने को खड़े हुए हैं, हमें उसका मुकाबला करना है।

मैकमहोन-रेखा: दीर्घकाल से मान्यताप्राप्त तथ्य

हमने पहले ही अनेक प्रमाण दिए हैं कि हमारी सीमा वह है, जिसे मैकमहोन-रेखा कहा जाता है। परन्तु यह रेखा श्री मैकमहोन ने नहीं बनाई थी। इस रेखा के द्वारा तो दीर्घकाल से स्वीकृत उस सीमा को मान्यता दी गई थी, जो हिमालय की ऊंची चोटियों से बने जल-विभाजक द्वारा दोनों देशों को अलग-अलग करती है। कुछ हद तक, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, चीनियों ने यह सीमा-रेखा स्वीकार की। उसने निश्चय ही बर्मा के साथ इस रेखा को माना। और, यदि वैधानिक या कानूनी पक्ष को अलग रख दें, तो भी यह बात निर्विवाद और सच है कि चीनी कभी उस रेखा के इस ओर नहीं आए --सिवाय सीमा के एक छोटे से गांव लांगजू के। इस बात को सदन जानता है।

चीनियों ने जिस मैकमहोन-रेखा को अवैधानिक कहा है, वह 48 वर्ष पहले, 1914 में, निर्धारित की गई थी। यह भाग काफी लम्बे अर्से से भारत का अंग है। विगत इतिहास भी इसे भारत का भाग बताता है। इस प्रकार, पिछले 50 वर्षों से यह रेखा हमारी उत्तरी सीमा मानी गई है। मैं केवल बहस के लिए ही वर्षों की संख्या कम करके 50 कह रहा हूं। वास्तव में, यह तो उससे भी पहले से चली आ रही थी। यदि चीनियों ने इसे स्वीकार न किया हो, तो भी मैं यह कहना चाहता हूं कि 1914 में इस सन्धि के बारे में उन्होंने जो आपत्ति उठाई भी थी, वह मैकमहोन-रेखा के बारे में नहीं थी; वह आपत्ति सन्धि के दूसरे खण्ड के बारे में थी, जिसके अन्तर्गत आन्तरिक तिब्बत और बाहरी तिब्बत को विभाजित किया गया था [देखें पृष्ठ 48 - सं.]। उसमें मैकमहोन-रेखा नहीं थी। यह सत्य होने पर भी कि चीन ने अन्य आपत्तियों के कारण पूरी सन्धि पर आपत्ति उठाई थी, यह रेखा पिछले 50 वर्षों से हमारे नक्शों में मौजूद है, हम इसे व्यवहार में लाते रहे हैं, यह हमारे संविधान में मानी गई है और हमारे प्रशासन, आदि सभी कामों में मानी जाती है।

मैं स्पष्ट कहूँ कि तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने और झूठ को सच दिखाने के चीनियों के प्रयास से मुझे हैरानी हुई है, क्योंकि वे जो कुछ कह रहे हैं, उसका कोई आधार नहीं है। इन सब वर्षों में हम मैकमहोन-रेखा तक रहे हैं, उससे एक इंच भी आगे नहीं बढ़े हैं, और न ही हमने किसी दूसरे की भूमि की ओर लुब्ध दृष्टि से देखा है। एक क्षण के लिए उनकी ही बात मान लें कि मैकमहोन-रेखा वस्तुत: कहाँ है, इस बारे में सन्देह की गुंजायश है। **लेकिन वास्तविकता यह है कि उन्होंने एक ऐसे क्षेत्र पर हमला किया है, जो किसी भी समय, इतिहास के पिछले 10 हजार वर्षों में, कभी उनके हाथ में नहीं रहा। चीन की वर्तमान सरकार आज से लगभग 12 वर्ष पहले बनी। अत: इस क्षेत्र पर जो भी दावा किया गया है, वह केवल 12 वर्षों में ही बना हो सकता है और उससे पहले तिब्बत के माध्यम से। इसलिए प्रश्न यह है कि वे तिब्बत के जरिए या तिब्बत पर आधिपत्य के जरिए क्या दावा पेश कर सकते हैं।** यह सही है कि पहले काफी समय तक, ब्रिटिश राज के समय भी, तिब्बत और भारत के बीच सीमा के बारे में कुछ विवाद था। लेकिन यह विवाद बहुत थोड़े-से बिखरे हुए छोटे-मोटे टुकड़ों के लिए या छोटे-मोटे सीमान्त क्षेत्रों के लिए ही था। पहले कभी किसी ने, तिब्बत की किसी भी सरकार ने, इतने बड़े क्षेत्र पर दावा नहीं किया, जैसा कि अब उत्तर-पूर्व सीमान्त एजेन्सी के दो-तिहाई हिस्से पर और लद्दाख के भी एक बड़े हिस्से पर किया जा रहा है।

अत: हम एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वह यह कि चीन ने एक बड़ी भारी फौज इस क्षेत्र में भेजी है - उस क्षेत्र में, जो बहुत दीर्घ काल से भारत में रहा है और जिस पर भारत का ही शासन रहा है। अगर उनका कुछ दावा था, तो वे इस बारे में हमसे बातचीत कर सकते थे, या कोई और शान्तिपूर्ण तरीका अपना सकते थे, किसी को मध्यस्थ बना सकते थे, या हेग की अदालत में जा सकते थे।

यह कहना कि हमने चीन पर हमला किया है, एक दुरंगी चाल है, जिसे मेरे जैसे सीधे-सादे आदमी के लिए समझ सकना मुश्किल है। क्या यह सम्भव है कि हम अपने ऊपर ही, अपने देश की ज़मीन पर ही, हमला करें और वे हमारे क्षेत्र के पहाड़ों पर से उतर कर उसकी रक्षा करें ? अजीब बात है, लोग अपनी करतूतों को न्यायसंगत बताने के लिए किस हद तक जा सकते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि चीन की वर्तमान सरकार को संयुक्त राष्ट्र-संघ में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। माननीय सदस्यों को आश्चर्य होता है, जब हम संयुक्त राष्ट्र-संघ में चीन की सरकार को प्रतिनिधित्व दिलाने की वकालत करते हैं। वर्तमान हमले के बावजूद हमने इस बात की वकालत की है, क्योंकि हम समझते हैं कि यह हमारी पसन्द-नापसन्द का सवाल नहीं है; सवाल यह है कि किस तरह दुर्व्यव्हार का अन्त होगा तथा निरस्त्रीकरण सम्भव हो सकेगा। यह बात गलत है कि आप सारी दुनिया में तो निरस्त्रीकरण कर दें और चीन जैसे

बड़े देश को हथियारों से लैस रहने दें। अत: चीन के हमले से गुस्सा और खीझ होने के बावजूद हमने उसकी वकालत की है और अब भी करते हैं। मुझे खुशी है कि हमने सारा काम एक पृष्ठभूमि सामने रख कर किया और कर रहे हैं। एक दिक्कत यह है कि आप चीन को दुनिया की किसी भी अदालत में नहीं बुला सकते। **चीन एक बिल्कुल गैर-जिम्मेदार देश है और वह किसी भी झगड़े को निबटाने के लिए लड़ाई में विश्वास करता है, शान्ति से उसे कोई लगाव नहीं है। मैं कुछ लोगों की तरह कम्युनिज़्म के समर्थन या कम्युनिज़्म के विरोध के प्रश्न में नहीं पड़ता। मेरे विचार में यह इस अथवा अन्य किसी भी मामले में कोई बड़ा सवाल नहीं है। बड़ा सवाल यह है कि एक विस्तारवादी और साम्राज्यवादी देश जान-बूझ कर हमारे देश पर हमला कर रहा है।**

तो, वर्तमान संकट हमारी किसी कार्रवाई के कारण या हमारे चाहने से पैदा नहीं हुआ है। यह तो चीन ही है, जिसने क्षेत्र-सम्बन्धी अपने दावों को सैनिक बल से पाने की कोशिश की है। वास्तव में, चीनी फौजें उस रेखा से भी आगे बढ़ आई हैं, जहाँ तक चीन ने अपना प्रदेश होने का दावा किया था। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, **चीन की सीमा उसकी फौजों के साथ आगे बढ़ती रहती है; जितना प्रदेश वे दबा लेते हैं, वहाँ तक उनकी सीमा बन जाती है।**

बुनियादी नीतियाँ वही रहेंगी

अपनी सीमाओं और मातृभूमि की रक्षा के लिए हमने सभी मित्र देशों से मदद माँगी है। मैं उन देशों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने हमारे साथ सहानुभूति प्रकट करने और हमें सहायता देने की अपील का तुरन्त उत्तर दिया। विदेशों से हमें जो सहायता मिली है, उसके साथ कोई शर्त नहीं लगाई गई है; अत: इससे हमारी तटस्थता की नीति पर, जिसे हम बहुत महत्व देते हैं, कोई असर नहीं पड़ता। जिन देशों ने हमारी सहायता की है, उन्होंने स्वयं इस बात को समझा है और यह स्पष्ट किया है कि वे यह नहीं चाहते कि हम अपनी नीति बदलें। अमेरिका, ब्रिटेन और कुछ अन्य मित्र देशों ने हमें बड़ी तेज़ी से सहायता दी है। हम इस सम्बन्ध में कुछ अन्य देशों से भी लिखा-पढ़ी कर रहे हैं। हमने सोवियत रूस और फ्रांस जैसे मित्र देशों को भी कुछ चीजों के लिए लिखा है।

हमने अक्सर यह बात कही है कि हम किसी दूसरे देश का क्षेत्र हड़पना नहीं चाहते। हम अपने देश के क्षेत्र से ही पूरी तरह सन्तुष्ट हैं। लेकिन इसके साथ-साथ हम यह भी बर्दाश्त नहीं कर सकते कि कोई दूसरा देश हमारे क्षेत्र को हड़पने की कोशिश करे। हालाँकि चीनी हमलावरों ने कुछ आरम्भिक सफलता पाई है — मैं नहीं जानता कि उनके मन में क्या है; उन्होंने हमारे जिस इलाके पर इधर कब्जा किया है, उसका वे अपने दावों को मनवाने में इस्तेमाल करना चाहते हैं, या उनके कोई बुरे मनसूबे हैं — हम हमले के सामने झुकेंगे नहीं, इसका नतीजा कुछ भी हो।

वास्तव में, हमें हर मसले को अन्य आवश्यक बातों के साथ देखना चाहिए। हम कह सकते हैं — कुछ लोग कहते भी हैं — कि हमें अपने देश को हथियारबन्द करना है। एक दृष्टि से यह सही है। लेकिन वास्तव में हम यह चाहते हैं कि देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने काम को पूरी मुस्तैदी और लगन से करे, चाहे वह खेत या कारखाने में काम करता है, या मोर्चे पर शत्रु से लोहा लेता है। इस सम्मिलित प्रयत्न से ही हमारे देश की उन्नति होगी और अन्त में हमारी विजय होगी। अत: हमें अपने देश को केवल हथियारों से ही लैस नहीं करना है, बल्कि उसे खेती और उद्योग-धंधों के हथियारों से भी मज़बूत बनाना है।

हमारे सामने जो महान् कार्य है, उसकी अहमियत को हम कम करना नहीं चाहते। किसी भी व्यक्ति को इसकी अहमियत को कम नहीं समझना चाहिए और न ही इस सम्बन्ध में अपने मन में कोई भ्रम रखना चाहिए। यह ऐसी चीज़ नहीं है, जिसका हम किसी क्षणिक जोश से मुकाबला कर सकते हैं। हमें एक लम्बे अर्से तक अपने प्रयत्नों को जारी रखना होगा। यह काम बेशक कठिन है, लेकिन हमें अपनी पूरी ताकत लगा कर इसे पूरा करना होगा।

मैं अपने जवानों और वायु-सैनिकों के बारे में कुछ कहना चाहूँगा, जो अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। मैं आप लोगों की तरफ से उन जवानों को शुभकामनाएं भेजता हूं और यह आश्वासन देता हूं कि उनके लिए जो-कुछ भी सम्भव होगा, हम करेंगे। जिन जवानों ने मातृभूमि की रक्षा में अपने प्राणों की आहुति दी है, हम उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इन वीरों को हम और हमारी आगामी पीढ़ियाँ कभी नहीं भूलेंगी। मुझे विश्वास है कि इस सदन का प्रत्येक सदस्य इस काम में पूरी सहायता देगा और दुनिया को यह दिखाएगा कि स्वतन्त्र भारत, जिसने सदा शान्ति का समर्थन किया है और जो भविष्य में भी दूसरे देशों के साथ शान्ति और मित्रता का समर्थन करता रहेगा, कभी अपने देश पर हमले को बर्दाशत नहीं कर सकता।

[लोकसभा में, 8 नवंबर 1962]

पंचशील की मृत्यु

सुधाकर भट्ट

तिब्बत और भारत के बीच संबंधों को निर्धारित करने वाला भारत चीन के बीच 1954 में हुआ व्यापार संबंधी ''पंचशील'' समझौता 3 जून 1962 को खत्म हो गया।

इस समझौते की समाप्ति से भारत ने यातुंग, ग्यानत्जे और गार्तोक में अपनी व्यापार एजेंसियों को बन्द कर दिया और चीन ने कलिम्पोंग, कलकत्ता और नई दिल्ली में अपनी व्यापार एजेंसियों को बंद कर दिया।

इस समझौते के कायम न रहने से तिब्बत और भारत के बीच तीर्थ-यात्रियों का आना-जाना भी ठप पड़ गया। समझौते से भारत के तीर्थयात्रियों का कैलाश (कांग रिमपोछे), मानसरोवर (मावनत्सो) और ल्हासा जाना मान्य था। यह तीर्थयात्रा भारतीय वैसे प्राचीन काल से ही करते आ रहे थे। हालाँकि 1954 में तिब्बत में भड़के चीन विरोधी विद्रोह के बाद तीर्थ-यात्रियों का आना-जाना समाप्तप्राय ही हो गया था। तिब्बती तीर्थयात्रियों को भी भारत के पवित्र स्थल - वाराणसी, सारनाथ, गया और साँची जाने से रोक दिया गया।

पीकिंग ने 3 दिसम्बर 1961 को एक नोट में प्रस्तावित किया था कि 1954 समझौते को एक नये समझौते से बदला जाय जिससे ''दोनों देशों के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक अर्न्तप्रवाह'' बढ़े। चीन ने विनम्र भाषा में अपनी कुटिल भावनाएं प्रकट की, ''चीन और भारत एशिया की दो पड़ोसी शक्तियाँ हैं। दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो भारत और चीन की भौगोलिक निकटता को बदल सके। चाहे जितनी भी देर तक इसे टाला जाय, भारत-चीन के बीच सीमा प्रश्न को शांतिपूर्ण ढंग से कभी न कभी सुलझाना ही है। भारत और चीन की जनता के हित में और एशियाई तथा विश्व शान्ति के लिए इस पर जितनी जल्द हो सके निर्णय आवश्यक है। यह आशा की जाती है कि इन विचारों पर भारत सरकार गंभीरता से विचार करेगी।''

भारत ने प्रतिवाद में कहा कि वह ''दोनों की मित्रता और एशियाई शान्ति के हित में सीमा के कुछ क्षेत्रों में छोटे-मोटे परस्पर सामंजस्य के लिए तैयार है लेकिन वह इस बात का अनुमोदन नहीं करती कि पूरी भारत-चीन सीमा अभी तक अनिर्धारित है जिसे विचार-विमर्श के अन्तर्गत होना चाहिए।'' क्योंकि यह सदियों के इतिहास को झुठलाना होगा और जो अभी तक के अनेक समझौतो और संधियों पर प्रश्नचिन्ह लगा देगा। नई दिल्ली ने कहा कि नये समझौते पर तब तक बातचीत नहीं हो सकती जब तक चीन ''अपनी आक्रामक

नीतियाँ समाप्त नहीं करता और एक ऐसा सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाने में सहयोग नहीं करता जिसमें पंचशील की नीतियों का शब्दों और भावनाओं में कठोरता से पालन हो सके।'' इसके लिए चीन को लद्दाख में भारतीय क्षेत्र की 12000 वर्ग मील भूमि से भी हटना पड़ेगा।

1954 का समझौता केवल आठ वर्षों के लिए किया गया था, न कि दस या बीस वर्षों के लिए।

क्यों आठ ही साल? इस समझौते पर दस्तखत करने और अपनी रज़ामन्दी देने से पहले बातचीत में भारत ने प्रस्ताव दिया था कि इसे 20 या इससे भी अधिक वर्षों के लिए मान्यता दी जाय, क्योंकि यह उन पाँच सिद्धांतो पर आधारित था जिसके बारे में भारत और चीन ने घोषणा की थी कि यह न केवल इन्हीं दो देशों बल्कि सभी देशों के आपसी संबंधों के लिए एक मार्गदर्शक होगा। लेकिन चीन ने केवल आठ वर्ष के समझौते पर जोर दिया।

बाद में यह बिल्कुल साफ हो गया कि चीन को यह विश्वास था कि वह आठ वर्षों के अंदर तिब्बत को चीन में पूरी तरह मिला लेगा। पीकिंग की गणना थी कि तिब्बतियों को भारत से खाद्य सामग्री, कपड़े और दूसरी आवश्यक वस्तुओं की जरूरत ज्यादा से ज्यादा आठ वर्षों तक होगी। उसके बाद भारतीय व्यापारियों को तिब्बत से बाहर किया जा सकेगा।

लेकिन तिब्बत में पीकिंग की योजना असफल सिद्ध हुई। उन्होंने तिब्बतियोंके विरोध में उठ खड़े होने के बारे में नहीं सोचा था। पर तिब्बती विद्रोह के बहुत पहले ही, चीनियों ने यातुंग, ग्यानत्से और गार्तोक के भारतीय व्यापारियों पर प्रतिबंध लगा दिये थे और वहाँ की भारतीय व्यापार एंजेसियों पर कठोर सीमाएं लागू कर दी थी। भारतीय व्यापारियों को अक्सर इस बहाने से अनुमति प्राप्त क्षेत्रों में भी आने-जाने से रोक दिया जाता था कि वे स्थानीय कानूनों के अंतर्गत तय किए जाते हैं। जब चीनियों से इन कानूनों के विवरण के बारे में पूछा जाता तो जवाब मिलता कि ये या तो 'सभी को अच्छी तरह मालूम है' या ये 'समय-समय पर बदलते रहते हैं'।

यह मानो एक व्यंग्य ही है कि पंचशील समझौते के कार्यरूप में आने के एक महीने के अंदर ही 1954 में ग्यानत्से में भारतीय ट्रेड एजेंसी के भवन बाढ़ में बह गये। एजेंसी को एक अस्थायी भवन में जाना पड़ा जो बहुत अस्वास्थ्यकर और असंतोषजनक था। कड़कती ठंड में वहाँ आग जलाने की भी समुचित सुविधा नहीं थी। लेकिन पहली जगह पर फिर से भवन बनाने की सभी कोशिशों को चीनियों द्वारा 1954 से ही, उसी वर्ष से जब से यह समझौता लागू हुआ, सुनियोजित ढंग से हतोत्साहित किया जाता रहा ताकि फिर से भारतीय व्यापार एजेंसी का भवन बन ही न सके।

जैसे कि 1954 की बाढ़ के विनाश, जिसने ग्यानत्से में भारतीय ट्रेड एजेंसी की लगभग एक-तिहाई भूमि बहा दी, की कमी पूरी कर रहे हों, चीनियों ने नदी-किनारे की रोक भी ढहा दी जिससे एजेंसी के कंपाउंड में और ज्यादा पानी प्रवेश कर गया। यह संपत्ति 1943 में तत्कालीन भारत सरकार द्वारा तिब्बत सरकार से 1 अप्रैल 1971 तक मान्य लीज पर ली गई थी। और इस लीज के जारी रहने का अधिकार पीकिंग द्वारा उन आधिकारिक नोट्स में माना गया था जिनका पंचशील समझौते के अन्तर्गत आदान-प्रदान किया गया था।

लेकिन चीन सरकार ने इस अधिकार को मार्च 1958 में यह कह कर मानने से इन्कार कर दिया कि वह 1943 में हुई लीज को मान्यता नहीं देगा, क्योंकि इस पर ब्रिटिश शासन काल में हस्ताक्षर हुए थे और यह चीनी जनवादी गणतंत्र द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारत सरकार ने कहा कि न केवल यह उत्तराधिकारी राज्य के अधिकारों को निर्दिष्ट करने वाले अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के खिलाफ होगा, बल्कि इस तरह की आपत्ति सबसे अधिक असाधारण इस दृष्टिकोण से थी कि पंचशील समझौते पर बातचीत के दौरान, 1954 समझौते के बिन्दुओं और बाद के आदान-प्रदान किये गये नोट्स में, कहीं भी चीनी सरकार ने लीज़ के जारी रहने पर कोई आपत्ति नहीं की थी।

भारतीय व्यापार एजेंसी को फिर से बनाने के काम में लगे मज़दूरों को रोकने के लिए चीनियों ने यह बहाना बनाते हुए गोलियाँ चलायीं कि वे निशाने का अभ्यास कर रहे हैं। दो गोलियाँ भारतीय सहायक अभियंता के सर के ऊपर से निकल गयीं, जब वे कार्य स्थल पर ईंटो का निरीक्षण कर रहे थे। भारतीय ट्रेड एजेंट के ड्राइवर को गिरफ्तार कर लिया गया और उसकी कार जब्त कर ली गई।

यहाँ तक कि भारतीय प्रतिष्ठानों के पत्र-व्यवहार को भी रोकने की कोशिश की गई। भारतीय कर्मचारियों की सुरक्षा गारंटी लेने से मना करके उनका वहाँ आना-जाना भी प्रतिबंधित कर दिया गया।

ग्यानत्से में भारतीय ट्रेड एजेंसी, अपने भवन के नष्ट होने के बाद, जिस अस्थायी भवन में गई, वह कुल मिलाकर बस दस कमरों का था। उनमें से आठ रिकार्ड-फाईल रखने तथा डिस्पेंसरी के काम आते थे जबकि एजेंसी का ऑफिस सिर्फ दो छोटे कमरों में चलता था। चीनियों ने इसके आस-पास खाद और कम्पोस्ट के गड्ढे खोदने शुरू कर दिये और उसके प्रवेश द्वारा पर एक सार्वजनिक शौचालय बनवा दिया।

यातुंग में भी भारतीय ट्रेड एजेंसी को ऐसी ही असम्मानजनक परिस्थितियों का सामना करवाया गया। यहाँ तक कि छोटे-छोटे मरम्मत के काम, जैसे टूटी खिड़की के शीशे

लगवाने इत्यादि की भी अनुमति नहीं दी गई।

चीनी अधिकारियों द्वारा लगातार नये-नये अवरोध खड़े करने से तिब्बत में भारतीय व्यापारियों को एक बड़ा झटका लगा। तिब्बत के साथ भारत का हमेशा से एक लाभदायक व्यापार रहा था। भारतीय व्यापारी अपनी अर्जित जमाराशि को भारत भेजते भी रहे थे। जुलाई 1959 में एक आदेश द्वारा तिब्बत में चीनी मुद्रा को ही एकमात्र कानूनी मुद्रा करार दे दिया गया। इसके बाद चीनियों ने जो कदम उठाया वह था तिब्बती मुद्रा का अवमूल्यन, जिसके फलस्वरुप भारतीय व्यापारियों के अकाउंट खुद ब खुद अवमूल्यन के अनुरूप गिर गये। चीनियों ने अगले कदम के रूप में भारतीय व्यापारियों को अपनी जमाराशि को नयी दर पर परिवर्तित करने के लिए बाध्य किया। इसके फलस्वरूप भारतीय व्यापारियों को लाखों रुपये का नुकसान हुआ।

इसके आगे, तिब्बत में चीनी अधिकारियों ने भारतीय व्यापारियों की मुद्रा-संपत्ति को वापस भेजने पर रोक लगा दी। जब भारतीय प्रतिनिधियों ने व्यापारियों को होने वाली कठिनाइयों के बारे में बताया, तो वापस भेजने की स्वीकृति तो दी गई लेकिन पूरे 100 प्रतिशत कमीशन के साथ, जबकि इसके लिए निर्धारित परंपरागत दर दो प्रतिशत थी। दूसरे शब्दों में, वापस भेजना केवल कागजों पर हो रहा था जबकि वास्तव में कोई मुद्रा स्थानान्तरित नहीं हो रही थी, क्योंकि जितनी राशि भेजी जानी होती थी, उतना ही चीनी कमीशन के रूप में ले लेते थे। यह वास्तव में सर्वस्व ले लेने जैसा ही था।

तिब्बत में अवस्थित कैलाश-मानसरोवर जैसे तीर्थ स्थलों पर भारतीय तीर्थयात्रियों के जाने का सहज अधिकार 1954 के समझौते में विशेष रूप से माना गया था, जिसे पीकिंग ने अस्वीकृत कर दिया। 6 मई 1959 को बहाने के नाम पर एक फूहड़ कार्रवाई की गई, जिसमें एक भारतीय स्वामी ब्रह्मचारी आत्म चैतन्य को चीनी सिपाहियों ने पकड़कर अकारण परेशान किया। उन्होंने उनसे पूछताछ की, उनके सामान की तलाशी ली और उनके कुछ सामान जब्त कर लिए। जब्त सामानों में थी कुछ होमियोपैथिक दवाएं जिनको लेकर उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे उसे तिब्बती लोगों को जहर देने के लिए ले जा रहे थे। पाँच दिन तक हिरासत में रखने के बाद उन्हें कैलाश-मानसरोवर जाने दिया गया इस शर्त पर कि वे उसी रास्ते से वापस लौटेंगे। जब वे भारत लौट रहे थे, तो उन्हें फिर रोक लिया गया और एक तैयार बयान पर हस्ताक्षर करने को कहा गया कि उनके पास जहर था। स्वामी ने इससे इन्कार कर दिया। अंतत: उन्हें भारत लौटने दे दिया गया - लेकिन उनकी होमियोपैथिक दवाओं और अन्य सामानों के बगैर।

इन तमाम घटनाओं से पता चलता है कि 3 जून 1962 को औपचारिक रूप से समाप्ति के

बहुत पहले ही, 1954 का वह प्रसिद्ध पंचशील समझौता एक बेकार दस्तावेज बन चुका था। पीकिंग की यह मंशा मगर स्पष्ट हो गयी थी कि 1954 समझौता फिर से लागू हो तो तिब्बत में भारतीय एजेंसियों के बिना, किंतु कलिम्पाँग, कलकत्ता और नई दिल्ली में चीनी एजेंसियों की पूर्ववत् सक्रियता के साथ।

इसलिए 26 अक्टूबर 1959 को ही भारत सरकार ने नई दिल्ली में चीनी दूतावास को दिये अपने ज्ञापन में कहा था – ''[भारत] सरकार तथ्य गिनवाने में कोई खुशी महसूस नहीं करती... लेकिन तिब्बत में भारतीय ट्रेड पोस्टों के साथ चीनी अधिकारियों के व्यवहार और भारत में चीनी पोस्टों के द्वारा उपभोग की जाने वाली सुविधाओं और लाभों के अंतर के तथ्यों को साफ-साफ देखने की जरूरत है। भारत सरकार को खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि तिब्बत क्षेत्र में उसके प्रतिनिधियों को आवागमन, संचार-संपर्क और रहन-सहन की न्यूनतम सुविधायें देने पर बार-बार गुहार करने पर भी स्थानीय चीनी अधिकारी वह सहानुभूति और ध्यान नहीं दे रहे हैं जो एक दोस्ताना देश के प्रतिनिधियों पर दिया जाना चाहिए। वे यह भी कहना चाहेंगे कि जबतक ये सुविधायें उपलब्ध नहीं करायी जायेंगी, भारतीय पोस्ट सम्मान के साथ कार्य नहीं कर पायेंगे और उन जिम्मेदारियों से मुक्त हो जायेंगे जो 1954 के भारत-चीन समझौते के अन्तर्गत उनके लिए तय की गई थी।''

और फिर 9 मार्च 1960 को प्रधानमंत्री ने लोकसभा को बताया कि अब तक चीनी (लद्दाख के) दामचोक क्षेत्र में बस एक पतली पट्टी को छोड़कर उनके द्वारा दावा किये गये पूरे क्षेत्र पर पूरी तरह कब्जा कर चुके हैं!

चीनियों ने न्यागजू में भारतीय भूमि के लगभग डेढ़ मील अंदर सैनिक चौकियाँ कायम कीं। इसी तरह दाम्बूगुरू में भारतीय क्षेत्र के लगभग पाँच मील अन्दर और काराकोरम दर्रे के कुछ मील दक्षिण-पूर्व में भी अपनी स्थिति मजबूत कर ली। **उन्होंने 1957 में भारत के अक्सईचिन पठार में से होकर तिब्बत-सिनकियांग हाइवे बनाया था और आगे पश्चिम की ओर लनक ला और कारातागा दर्रों से होकर भारतीय भूमि के भीतर जाते हुए एक और हाइवे का निर्माण कर लिया। यह दूसरी सड़क 1959 में पूरी की गई।**

यह सब जानकर भारतीय संसद में हंगामा मच गया। तीसरे आम चुनाव के पहले फरवरी 1962 में जब दोनों सदनों के सामने ये तथ्य जाहिर किये गये, सदनों को स्थगित करने की नौबत आ गई। नेहरू ने देश के भय और क्षोभ को यह कहते हुए कम करने की कोशिश की कि लद्दाख क्षेत्र में स्थतियाँ भारत के पक्ष में हो रही हैं। ''हम अपने वे कार्यक्रम जारी रखेंगे जिससे कि उनके अधिकार वाली भूमि को फिर से वापस पाने के लिए आखिरकार हम प्रभावी कदम उठाने की स्थिति में आ जायें...(लेकिन) हमें सैनिक कमांडरों की सलाह का पालन करना होगा।''

चीन ने धमकी दी कि यदि भारत ने पश्चिमी क्षेत्र लद्दाख में अपनी सैनिक गतिविधियाँ बंद नहीं की तो वह पूर्वी भाग के नेफा क्षेत्र में आक्रमण करेगा। यह घोषणा करते हुए कि लद्दाख में भारत की सैनिक गतिविधियाँ 'खतरनाक' और 'बर्दाश्त के काबिल नहीं' हैं, नई दिल्ली को भेजे एक चीनी नोट में कहा गया था- ''यदि इसी तर्क पर कार्रवाई की जाय तो चीनी सरकार के पास सभी कारण हैं कि वह तथाकथित मैकमहोन लाइन को पारकर हिमालय की चोटी और उसके दक्षिणी तलहटी के बीच पड़ने वाले विशाल प्रदेश में अपनी टुकड़ियों को भेज दें।''

हालाँकि यह पहली बार नहीं था, जब चीनियों द्वारा इस तरह की खुली धमकी दी गई थी। 26 अक्तूबर 1959 को चीनी विदेश कार्यालय ने कहा था कि ''तथाकथित पेट्रोलिंग के लिए यदि भारतीय टुकड़ियाँ परंपरागत चीन-भारत सीमा पार कर सकती हैं तो चीनी टुकड़ियों के पास पूर्व में (नेफा) एवं तथाकथित मैकमहोन लाइन के दक्षिण के क्षेत्र में पेट्रोलिंग के लिए और भी ज्यादा कारण हैं।''

प्रधानमंत्री नेहरू ने संसद में कहा कि यदि चीनी फौज मैकमहोन रेखा को पार करने की कोशिश करेगी, तो उनका प्रतिरोध किया जायेगा। पर उन्होंने किसी बिना सोचे-समझे की जाने वाली कार्रवाई के प्रति सावधानी जतायी – ''यदि आपको सैनिक कारवाई के जैसा कुछ करना हो तो उसे मजबूत, पहले से तैयार होनी चाहिए, जो आप ही पर भारी न पड़ जाय... हम तैयारियों के एक मुकाम पर पहुँच चुके हैं और यह मामला हमारे सैनिक, वायु और सुरक्षा सलाहकारों के पास भेज दिया गया है। लेकिन यह उनका निर्णय है [कि कुछ न किया जाए।]''

[1967]

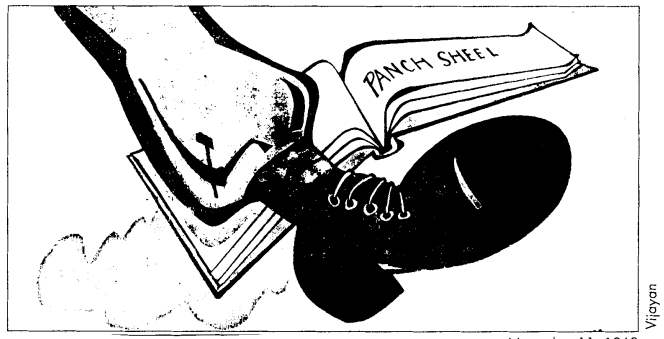

चीन का स्वप्न

के.एन. मेनन

आम तौर पर दो प्रभुतासंपन्न राज्यों के सीमा-संबंधी विवाद एक-दो मील इधर-उधर, सर्वेक्षणों में अनियमितताएँ या मानचित्रों में भूल इत्यादि पर ही होते हैं जिन्हें मध्यस्थता या विचार-विमर्श द्वारा सुलझा लिया जाता है। लेकिन चीन तो भारतीय क्षेत्र के एक बड़े हिस्से, लगभग पचास हजार वर्गमील, पर अपना अधिकार होने का दावा करता है और वह भी एक अजीबो-गरीब तरीके से। चीनी जनवादी गणतंत्र की स्थापना के बाद कुछ वर्षो तक किसी भी चीनी नेता ने भारतीय क्षेत्र पर अधिकार होने के बारे में कुछ भी नहीं कहा। चीन ने यह अद्‌भुत दावा तब किया, जब भारतीयों को अपने क्षेत्र में चीन की घुसपैठ का पता चला और उन्होंने विरोध दर्ज किया।

आखिर किस कारणवश चीन ने दो हजार वर्ष पुराने दोस्ताना संबंधों को ताक पर रखकर इस तरह की हरकत की? पीकिंग सरकार की इस निंदनीय कार्रवाई के पीछे क्या उद्‌देश्य है?

चीन का उद्‌देश्य कम्युनिज्म का विस्तार बिल्कुल नहीं हो सकता, क्योंकि मित्रवत् पड़ोसी के साथ क्षेत्रीय विवाद खड़े करना निश्चय ही इसके लिए कोई अच्छा रास्ता नहीं है। कभी चीनी नेता कहा करते थे कि अब तीसरा विश्व युद्ध पूँजीवाद का अंत कर देगा। लेकिन अब लगता है वे भी यह समझ गये हैं कि एक और युद्ध, कुछ करोड़ लोगों को कम्युनिस्ट बनाने की बजाय दुनिया का ही अंत कर देगा। दुनिया, जिसमें चीन भी है। खैर, युद्ध हो अथवा नहीं, भारत के कम्युनिस्ट हो जाने की संभावनाएँ क्षीण ही हैं।

दूसरी तरफ चीनी विस्तारवाद एक जाना-माना ऐतिहासिक तथ्य है। शक्तिशाली चीन हमेशा विस्तारवादी चीन भी रहा है। पुराने चीनी शासकों की विस्तारवादी नीतियाँ पूर्णरूपेण ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' पर आधारित थीं, जब कुछ ही देशों में उनका सामना करने की शक्ति थी और विश्व जनमत जैसी कोई चीज थी ही नहीं।

क्या आज का चीन, कम्युनिस्ट आदर्शो की हिमायत करते हुए यह दिखाना चाहता है कि विस्तारवाद आज भी उसकी उतनी ही महत्वपूर्ण नीति है जितनी वह सामंतवादी शासकों के समय में हुआ करती थी? बताया जाता है कि जब 1939 में माओ-त्से तुंग येनान में भूमिगत थे तब उन्होंने कहा था- ''चीन को युद्ध में पराजित करने के बाद साम्राज्यवादी शक्तियों ने चीन के कई क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया। जापान ने कोरिया, ताइवान, रियूक्यू द्वीपसमूह, पेसाडोरस् और पोर्ट ऑर्थर ले लिये। इंग्लैंड ने बर्मा, भूटान, नेपाल और

हांगकांग पर अधिकार कर लिया। फ्रांस ने अन्नम पर कब्जा किया। यहाँ तक कि पुर्तगाल जैसे छोटे देश ने भी मकाओ ले लिया।''

क्या चीनी वाकई मानते है कि जिन क्षेत्रों पर वे दावा कर रहे हैं, वह चीनी राज्य का हिस्सा हैं? यदि ऐसा है, तो क्या एशियाई देशों के लिए यह जानना जरूरी नहीं है कि चीनी नेताओं का उद्‌देश्य, चाहे वे इसमें सफल हों या न हों, पूरे एशिया पर आधिपत्य जमाना है?

भारत और (तिब्बत) चीन के बीच सीमा लगभग 2400 मील लंबी है। यह विस्तृत सीमारेखा मुख्यत: काराकोरम, क्युनलुन और हिमालय श्रेणियों की जल-विभाजक भूमियों के साथ-साथ चलती हैं। यह सीमा तीन भागों में बाँटी जा सकती है। पश्चिमी भाग जो कश्मीर और लद्‌दाख को चीन के सिनकियांग प्रदेश और तिब्बत से अलग करता है। मध्य भाग भारतीय संघ के तीन राज्यों की उत्तरी सीमा निश्चित करता है और पूर्वी भाग के अन्तर्गत भूटान और सिक्किम की उत्तरी सीमाएँ और शेष भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा, जो सामान्यत: मैकमहोन रेखा के नाम से जानी जाती है, आती है। इन तीनों भागों में चीनियों द्वारा अतिक्रमण हुआ है। भारतीय क्षेत्र के बड़े हिस्सों को चीनी मानचित्रों में चीनी भूमि दिखा कर वे बड़े आराम से उसे अपना क्षेत्र मान लेते हैं और वहाँ तैनात भारतीय टुकड़ियों को चीनी क्षेत्र में घुसपैठ कहा जाता है। साथ-ही-साथ वे शांतिपूर्ण समझौतों की बात भी करते जाते हैं। चीन की इसी नीति को दिखाने के लिए एक श्रीलंकाई समाचार-पत्र ने किसी न्यायालय का यह काल्पनिक संवाद दिया है:

वकील : तुमने बैंक में जबरदस्ती घुसकर, चौकीदार को मारने के बाद, वहाँ की संपत्ति हथियाई या नहीं?

अभियुक्त : बिल्कुल नहीं। मैंने तो पहले ही यह बयान प्रकाशित करवा दिया था कि मैं बैंक को अपनी संपत्ति मानता हूँ। चूँकि चौकीदार ने मुझे रोकने की कोशिश की, मुझे उसे आत्मरक्षा के लिए मारना पड़ा।

मजिस्ट्रेट : लेकिन क्या बैंक अथवा अन्य अधिकारियों ने तुम्हारा दावा माना था कि बैंक तुम्हारी संपत्ति है?

अभियुक्त : यही तो बात है। वे यह बात न मानकर यथा स्थिति को बिगाड़ना चाहते थे। मैं हिंसा बिल्कुल नहीं चाहता था। लेकिन पहला शत्रुतापूर्ण कदम चौकीदार ने ही उठाया था। उसने मुझे वहाँ नहीं घुसने दिया जिसे मैं पहले ही अपनी सम्पत्ति घोषित कर चुका हूँ। मैं तो खून-खराबे को अंतिम उपाय मानता था। यदि वे शांत रहते तो मैं तो वहाँ बिना किसी कठोर भाव या खूनखराबे के जाने वाला था।

[तिथि अज्ञात, अनुमानत: 1962-63]

पेकिंग का स्वप्न साम्राज्य

(चीनी भाषा में लिखी बातों का अर्थ सामने के पृष्ठ पर दिया गया है)

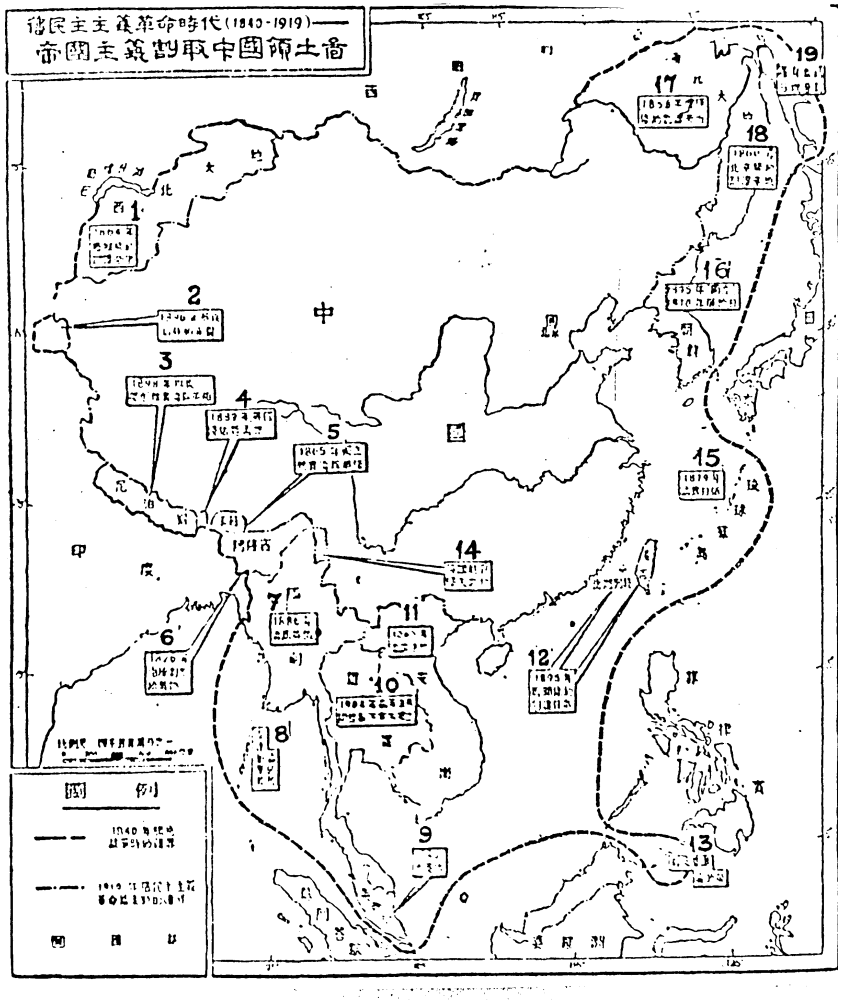

साथ के पृष्ठ पर प्रकाशित मानचित्र 1954 में प्रकाशित एक चीनी पुस्तक ''आधुनिक चीन का संक्षिप्त इतिहास'' से लिया गया है। मोटी रेखाओं से घिरे क्षेत्र को चीनी क्षेत्र बताया गया है। मानचित्र के नीचे बाएं खाने में बताया गया है:

– – – 1840 के अफीम युद्ध के समय चीनी सीमाएँ

–· –· –· 1919 की पुरानी प्रजातंत्रीय क्रांति के समय सीमाएँ

छोटी आयतों में चीनी भाषा में लिखी बातें क्रमानुसार इस प्रकार हैं:

1. **विशाल उत्तर-पश्चिम** – चीनी लेख के अनुसार, ''1864 में चुंगुचक के समझौते में साम्राज्यवादी रूस द्वारा अधिकृत''। इस क्षेत्र के अन्तर्गत (सोवियत गणतंत्र के) कजाकिस्तान, किर्गीजिया और ताजिकिस्तान के बड़े हिस्से आते हैं।
2. **पामीर** – ''रूस और ब्रिटेन के बीच 1896 में गुप्त रूप से बाँट लिया गया।''
3. **नेपाल** – ''1898 में 'स्वतन्त्रता' के बाद ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया।''
4. **चे-मेंग-सियुंग** (आज का सिकिक्म) – ''1889 में ब्रिटेन द्वारा अधिकृत।''
5. **पू-टान** (पूरा भूटान) – ''1865 में 'स्वतंत्रता' के बाद ब्रिटेन के अधीन हो गया।''
6. **अह-सा-मी** (पूरा असम) – ''1826 में बर्मा द्वारा ब्रिटेन को दे दिया गया।''
7. **बर्मा** – ''1886 में ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया।''
8. **अंडमान द्वीपसमूह** – ''ब्रिटेन के अधीन हो गया।''
9. **मा-ला-चिया** (आज का मलाया [मलएशिया]) – ''1895 में ब्रिटेन द्वारा अधिकृत''
10. **सिएन-लो** (पूरा थाइलैंड) – ''संयुक्त अंग्रेजी-फ्रांसीसी नियंत्रण के समय 1904 में स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।''
11. **अन्नम** (आज के उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया) – ''1895 में फ्रांस द्वारा अधिकृत।''
12. **ताइवान** और **पेंग हू द्वीप समूह** – ''1895 में शिमोनोसेकी समझौते के तहत जापान को दे दिये गये।''
13. **सू-लू-द्वीपसमूह** – ''ब्रिटेन द्वारा अधिकृत''।
14. वह क्षेत्र जहाँ से ब्रिटिशों ने सीमा पार कर अतिक्रमण किया।
15. **लियु-छियु** (रियू-क्यू द्वीपसमूह) – ''जापान द्वारा 1910 में अधिकृत।''
16.
17. और 18. **विशाल उत्तर पूर्व** – सोवियत सुदूर पूर्व का बड़ा हिस्सा, ''आइगुन (1858) और पीकिंग (1860) के समझौतों के तहत रूस को दे दिये गये।''
19. **क्यू-ये** (कुरील द्वीप) – ''रूस और जापान के बीच बाँट लिया गया।''

[साभार: श्री घनश्याम मेहता एवं ''लिंक'' समाचार पत्रिका]

विश्व शक्ति बनने के चीनी प्रयास

विदेश मंत्रालय, भारत सरकार

1. भूमंडलीय उद्देश्य और रणनीतियाँ

- चीन भारत बातचीत के संदर्भ को चीन की भूमंडलीय रणनीति पर विचार से शुरू होना चाहिए। अक्टूबर क्रान्ति की 40वीं वर्ष गाँठ (नवंबर 1957) पर माओ द्वारा दिये गये भाषण में चीन की भूमंडलीय नीति की वस्तुगत परिस्थितियों की परिकल्पना की गई थी। सोवियत संघ की कुछ प्रभावशाली उपलब्धियों जैसे - मिसाइल परीक्षण, स्पुतनिक का छोड़ा जाना और नाभिकीय अस्त्रों के मजबूत भंडार; एवं 1957-58 के जाड़ों में अमेरिका में आयी आर्थिक मंदी और एशिया में उपनिवेशी साम्राज्यों के तेजी से होते अंत आदि से माओ ने यह निष्कर्ष निकाला कि अंतर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन 1957 की मंदी के बाद निर्णायक रूप से समाजवादी खेमे की ओर झुक गया है। माओ की रणनीति नये स्वतंत्र क्षेत्रों में एक क्रांतिकारी नीति पर बल देती थी, जहाँ यदि कोई उग्र रास्ता न अख्तियार किया गया तो अमेरिका के बुर्जुआ पिट्ठुओं के हाथों कम्युनिज्म को नुकसान उठाना पड़ेगा।

- इस संघर्ष का चरित्र और रणनीति बताते हुए माओ ने कहा था :

  लम्बे अनुभवों से हमने सीखा है कि रणनीतिक रुप से हमें अपने सभी दुश्मनों को नुकसान पहुँचाना चाहिए। और कार्यनीति के रूप में हमें उनकी पूरी जानकारी रखनी चाहिए। हम सामान्यत: शत्रु का नुकसान कर सकते हैं लेकिन जहाँ तक प्रत्येक ठोस प्रश्न का सवाल है, हमें उनका पूरा लेखा-जोखा रखना चाहिए। यदि हम शत्रु को संपूर्ण रूप में नुकसान न पहुँचाएं तो यह अवसरवादी गलती होगी। लेकिन हर एक शत्रु से संबंधित प्रश्नों और ठोस प्रश्नों पर यदि हम शत्रु की पूरी जानकारी न रख रहे हों तो हम अति साहसिकता की गलती कर रहे होंगे। (युद्ध में लड़ाइयाँ एक-एक कर ही लड़ी जा सकती हैं और शत्रु को भी धीरे-धीरे ही नष्ट किया जा सकता है... रणनीतिक रूप से हम भोजन को समाप्त करने की बात जब कहते हैं तो पूरे खाने को खा लेने की बात होती है। लेकिन जब हम सचमुच खाते है तो एक बार में एक ही कौर खाते हैं। समूचा भोजन एक ही कौर में नहीं खाया जा सकता।) सैनिक भाषा में इसे एक-एक कर दुश्मन को खत्म करना कहते हैं।

- माओ की 'अथक दबाव' और जरूरत पड़े तो 'उचित युद्धों' द्वारा 'लगातार बढ़त' की नीति को मास्को में आम सहमति नहीं मिली। यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियाँ उनके 1957 के 'निर्णायक बदलाव' के विश्लेषण से सहमत नहीं थी और विश्व क्रान्ति के शार्टकट के रूप में दुस्साहसिकता की ओर बढ़ने को तैयार नहीं हुईं।

- जब माओ मास्को से लौटे तो वे अपनी नीति लागू करने और इसकी उपयोगिता सिद्ध करने पर दृढ़ थे। साथ-साथ (अंतर्राष्ट्रीय) पार्टी के अंदर भी संघर्ष चलता रहा जिससे यूरोप के नर्मदिल कम्युनिस्टों को भी जीता जा सके। उन्होंने शुरूआत 1958 के मई में यूगोस्लाविया पर कड़े सैद्धांतिक प्रहारों से की। इसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत की हँसी उड़ाना था। चीन की नज़र में अब से मुख्य खतरा था 'संशोधनवाद' या 'दक्षिणपंथी अवसरवाद' जो उनके अनुसार मजदूरवर्ग की क्रांतिकारी ऊर्जा को कमजोर करके पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करता है। नवंबर 1957 के बाद से प्रत्येक संकट में माओ ने अपने राजनीतिक संघर्ष के सिद्धांत का प्रयोग किया। इसका उदाहरण जून 1958 के लेबनान और ईराक संकट में, जुलाई 1958 के समुद्री द्वीपों के संकट में और 1958-59 में चीन के इंडोनेशिया, किशी के जापान और मिस्त्र के साथ लगातार विवादों में देखने को मिला।

- इसी पृष्ठभूमि में भारत और चीन के बीच बढ़ते तनाव को देखना चाहिए। इसका पहला उदाहरण था जब चीन ने 1958 की समुद्री द्वीप समस्या में भारत की मध्यस्थ भूमिका को ठुकरा दिया। भारत के लिए 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौड़ते कुत्ते' जैसी टिप्पणी को फिर दुहराया गया। **भारत और यूगोस्लाविया चीन की क्रांतिकारी भूमिका को कमजोर करते प्रतीत होते थे। गुटनिरपेक्ष देशों में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका चीनी उद्देश्यों के विपरीत चल रही थी। इसी समय सोवियत संघ और अन्य कम्युनिस्ट देशों द्वारा नेतृत्वकारी गुटनिरपेक्ष देशों, जैसे भारत और यूगोस्लाविया को, जो अंतर्राष्ट्रीय धारा को एक प्रति-क्रांतिकारी दिशा में मोड़ते प्रतीत होते थे, आर्थिक मदद खासतौर पर चीन के लिए असह्य थी। भारत को दी गई सहायता को चीन से छीन ली गई सहायता समझा जा रहा था।** चीन का क्रांतिकारी राज्य अपनी विराट योजनाओं के लिए मदद की कितनी भी मात्रा को उदरस्थ कर अपने विकास की दर तेज कर सकता था। उस सहायता ने भारत की भूमिका को मजबूती दी और उसके गुटनिरपक्षेता के विचार को कारगर और आकर्षक बनाया। साथ-साथ विकासवादी सामाजिक, आर्थिक समानता और न्याय के क्षेत्र में भारत के प्रयोग चीनी दावों की राह में आते थे जो उसने एक पिछड़े समाज में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अपने प्रयोग से अपूर्व आर्थिक विकास हासिल करके किया था। भारत चीन के विकल्प के रूप में खड़ा हो रहा था। इस संदर्भ में

यह आश्चर्यजनक नहीं था कि चीन की रणनीति और भूमंडलीय उद्देश्यों में पहला कदम था विश्व में एक सम्मानजनक और प्रभावशाली स्वतंत्र शक्ति के रूप में भारत को दरकिनार करना।

- चीनी द्वन्द्ववाद के तर्क से भारत के साथ विरोध को पक्का बनाना था जिससे भारत पर हर प्रकार का हमला किया जा सके। चीनी नेतृत्व ने ''त्साओ-त्साओ'' नामक रणनीति का भारत के संबंध में प्रयोग किया जो ''सामंतों पर नियंत्रण करने के लिए सम्राट पर कब्जा करने'' पर जोर देता है। इस नीति के क्लासिक, प्रथम प्रयोगों ने मंच पर चीन के एक विश्व शक्ति के रूप में उभरने का संकेत दिया। यह एक नए ''लाँग मार्च'' का पहला कदम था जो चीनी कम्युनिस्टों द्वारा विश्व के गुटनिरपेक्ष और परतंत्र इलाकों के 130 करोड़ लोगों का सिरमौर बनने के उद्देश्य से उठाया गया था।

- भारत के विरूद्ध चीनियों के कदम लेनिन की उस भविष्यवाणी की पुष्टि करते प्रतीत हो रहे थे कि लंदन और न्यूयार्क की सड़क शंघाई और कलकत्ता से होकर जाती है। भारत और चीन की क्रांतिकारी मुक्ति परम्परागत लेनिनवादी विचार का हिस्सा रही है।

- यह कहना कि भारत से विवाद करने में चीन के कुछ अनिवार्य राजनीतिक उद्देश्य हैं, भारत पर चीन के भूमि संबंधी दावों को घटाना नहीं है। भारत पर अपने क्षेत्रीय दावों का दबाव डाल कर चीन ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरूद्ध अपनी क्रांतिकारी स्थापनाओं को विश्वसनीयता प्रदान करने की कोशिश की है। इसके कुछ कार्य भूतपूर्व साम्राज्यवाद की कुछ गड़बड़ियों को ठीक करने के लिए किए गए प्रयास जैसे लगते थे। इसी छद्म आवरण में चीन ने भारत-चीन विवाद को हमेशा विश्व के सामने रखने की कोशिश की है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि चीन अपने क्षेत्रीय दावों से इस उपमहाद्वीप पर अपना रणनीतिक दबदबा पक्का बनाना चाहता है।

- चीन की क्षमता निर्धारित करने वाले दो कारक सबसे महत्वपूर्ण हैं। इसमें से पहला है, चीन में सैनिक शक्ति के तीव्रविकास को अत्यधिक महत्व और प्राथमिकता मिलना। लगभग पूरी पिछली अर्धशताब्दी चीन में सैनिकवाद ही हावी रहा है। यहाँ तक कि कुओ मिन ताँग ने भी इसे ही एकमात्र साधन के रूप में संपूर्ण महत्व दिया था जिससे चीन के पूरे क्षेत्र पर राजनीतिक कब्जा हासिल किया जा सके। माओ ने चीनी राजनीति के वास्तविक तथ्य को ही रेखांकित किया जब उन्होंने

कहा था : ''सभी राजनीतिक ताकत बंदूक की नली से ही विकसित होती है।'' **चीनी सेना जहाँ शत्रु से हथियारों और उपकरणों में कमजोर होती है, वे इस असमानता को छल, चालबाजियों और लड़ाई के अपरम्परागत तरीके अपना कर दूर करने की कोशिश करते हैं। सैनिक नेतृत्व को कुछ असाधारण सोचने और करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।** इस प्रकार इसने ऐसी रणनीतिक धारणाएँ तैयार की हैं जो ज्यादातर उनके खुद के अनुभवों पर आधारित हैं। माओ-त्से-तुंग ने कहा था- ''हमने युद्ध से ही युद्ध करना सीखा।''

- दूसरा कारक है कि चीन के आर्थिक विकास का इसकी युद्धक शक्ति या क्षमता से निश्चित रूप से संबंधित होना। यह संयोग नहीं है कि चीन ने कम्युनिज्म के लिए अपनी भूमण्डलीय योजना अपनी पहली पंचवर्षीय (1953-57) योजना समाप्त हो जाने के बाद ही रखी। इस योजना ने एक आत्मचालित अर्थव्यवस्था के लिए अधिरचना तैयार की। इसलिए 1958-59 तक चीन एक प्रकार के सीमित युद्ध में शामिल होने के लिए बाहरी समर्थन पर कम निर्भर था, जो चीन के अनुभवों और क्षमताओं के अनुकूल था।

- इन सबसे निकलने वाला निष्कर्ष यह है कि जबकि चीन के पास एशिया में आक्रामक युद्ध में उलझने की उच्च क्षमता है, किसी पश्चिमी शक्ति से इसकी क्षमता स्पष्टत: निम्न है। इसी कारणवश चीन संयुक्त राज्य अमेरिका या ब्रिटेन से किसी प्रत्यक्ष विवाद में उलझने से सावधान रहता है - खासतौर से कोरियन युद्ध के अनुभव के बाद। यह भी कहा जा सकता है कि चीन अब ऐसे, बड़े युद्ध में बदल जाने वाली प्रत्यक्ष भिड़ंतों से बचता रहेगा। **रूसी समर्थन के अभाव में चीन किसी भी बड़े विवाद के संकेत देखकर उतनी ही जल्दी पीछे हट जाता है, जितनी तेजी से आगे बढ़ता है।**

- **भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को भेजे अपने हाल के पत्र में सही ही कहा है कि अमेरिका और सोवियत संघ के क्यूबा संकट में पूरी तरह उलझे होने का लाभ उठाकर चीन ने भारत पर अवसरवादी आक्रमण किया ताकि विश्व शक्ति होने की दिशा में एक बड़ा रणनीतिक कदम उठा लिया जाए। और इसीलिए क्यूबा में राजनीतिक समझौता होते ही, चीन ने जल्दी से एकतरफा युद्धविराम और पीछे हटने की घोषणा कर दी।**

- **किंतु चीनियों ने 27 अक्टूबर 1962 को ''पीपुल्स डेली'' के प्रसिद्ध 'बीस हजार अक्षरों' के लेख 'चीन-भारत सीमा प्रश्न के प्रकाश में नेहरू के दर्शन पर कुछ और' में आक्रमण के दूसरे कारण बताये।** उनकी आखिरी सफाई थी भारतीय

शासन का वर्ग स्वरूप – जिसके प्रमुख नेहरू थे और जिन्होंने ''ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों की विरासत की रक्षा करने के लिए हर संभव प्रयास किए।'' चीनियों ने भारतीय बुर्जुआ और ब्रिटिश बुर्जआ के बीच ''रक्त सम्बन्ध'' खोज लिये और उनके अनुसार इस गलत गठबंधन ने भारत को ''एशिया के केन्द्र'' के रूप में माने जाने के विचार को जन्म दिया।

- इन चीनी सिद्धान्तवादियों ने आगे कहा कि भारतीय नेतृत्व के वर्ग स्वरूप ने ''कई महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर इसके रूख को निर्धारित किया है। नेहरू हमेशा साम्राज्यवादियों के हितचिंतक रहे और मुख्यत: उनकी थोड़ी सी आलोचना और ढेर सारी मदद की नीति अपनायी।'' ज्यादा स्पष्ट करने के लिए इंडो-चीन, अमेरिका-जापान सुरक्षा समझौता, क्यूबा संकट, कांगो और बेलग्रेद कांफ्रेंस पर भारतीय विदेश नीति का उदाहरण इस बात को साबित करने के लिए दिया गया। इसने इसमें कोई संदेह नहीं छोड़ा कि **भारत की स्वतंत्र विदेश नीति, जो चीन के भूमंडलीय उद्देश्यों को मानने को तैयार नहीं थी, ही भारत-चीन संघर्ष का महत्वपूर्ण कारण था और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण को सही ठहराने का प्रयास करता था।**

- 1929 की एक घटना का उदाहरण देते हुए ''पीपुल्स डेली'' ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से भारत के खिलाफ विश्वासघात करने का आह्वान किया। यह विशिष्ट घटना चीनी राष्ट्रवादियों द्वारा चीनी पूर्व रेलवे, जो तब सोवियत संघ के पास थी, पर कब्जा करने के प्रयास से संबंधित थी। इस प्रश्न पर विरोधों के आदान-प्रदान के बाद सोवियत संघ और चीनी गणतंत्र में झड़पें शुरू हुई। हालाँकि यह एक देश द्रोही कदम था, पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत संघ का समर्थन किया। यह अजीब सा तर्क एक साथ सोवियत संघ के लिए चेतावनी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को फुसलाने की कोशिश थी।

- हालाँकि ज्यादा महत्वपूर्ण वे संकेत हैं, जो चीनी सिद्धान्तवादियों द्वारा भारत-चीन मसले को हल करने के लिए सुझाए गए हैं। उन्होंने सिफारिश की कि उनके साझे शत्रु साम्राज्यवाद के विरोध के लिए भारत को चीन के पीछे चलना चाहिए। उनकी सिफारिश थी कि भारत उस संघर्ष में लगातार सक्रिय समर्थन दे जो विभिन्न राज्य साम्राज्यवाद के खिलाफ कर रहे हैं। यदि भारत ऐसा करे, तभी ''भारत और चीन के बीच मित्रता और सहयोग पंचशील के आधार पर स्थापित करना संभव होगाा और सभी अन्य विवादों का उचित निपटारा किया जा सकेगा।'' अत: चीन के साथ समझौते के लिए भारत को न केवल चीन की क्षेत्रीय माँगों को मानना पड़ेगा

बल्कि चीनी नीति के मूलभूत उद्देश्यों को भी समर्थन देना होगा।

2. दक्षिण एशिया में चालबाजियाँ

- यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्यूबा संकट के बाद और भारत पर चीन के आक्रमण के बाद की घटनाओं पर चीनी नेतृत्व ने तथ्यों के पुनर्आकलन में अपने क्रांतिकारी उद्देश्यों और 'अथक दबाव' और 'लगातार बढ़त' की नीति को मंद करना जरूरी समझा या नहीं। उपलब्ध साक्ष्य दर्शाते हैं कि उनकी नीति से मिली सफलताओं ने इस पर हुई आलोचना के प्रभाव को घटा दिया। 12 दिसम्बर 1962 को सुप्रीम सोवियत में दिये गए अपने भाषण में ख्रुश्चेव ने चीन के विरूद्ध कठोर रूख लिया था। ख्रुश्चेव का यह संकेत था कि वह चीनी हितों के क्षेत्र को मानने के लिए तैयार हैं और उसमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे, यदि चीन यह आश्वासन देता है कि वह सोवियत संघ के हितों के क्षेत्र में दखलंदाजी नहीं करेगा। लेकिन तब तक दोनों के बीच तलवारें खिंच चुकी थी और विभिन्न यूरोपीय देशों की पार्टी बैठकों में आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हो गया था।

- जबकि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के बीच सैद्धांतिक संघर्ष चल रहा है, यूरोपीय नर्मदिल कम्युनिस्टों के विरूद्ध हमला तेज करने के लिए चीनी लगातार अफ्रीकी-एशियाई और लातिन-अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टियों से समर्थन बटोर रहे हैं। चीनी विचारों को इंडोनेशिया, वियतनाम, जापान, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, माली और अल्जीरिया की कम्युनिस्ट पार्टियों के समर्थन से नई ताकत मिली है।

- इस नई कूटनीति के लिए उन चीनी हमलों से जमीन तैयार की गई थी जो नये स्वतंत्र और गुटनिरपेक्ष देशों को वैकल्पिक नेतृत्व देने के लिए भारत पर किए गए थे। एशियाई एकता के रक्षात्मक विचारों को चीनी नेतृत्व के अंतर्गत एशियाई देशों के सैनिक और आक्रामक संगठन में बदल देना इस नई कूटनीति की विशेषता थी।

[1963]

एक बार तिब्बत स्वतंत्र देश हो जाय या जैसा मैंने अपने शान्ति प्रस्ताव में कहा है, शान्ति का क्षेत्र या अहिंसा की भूमि बन जाए जहाँ कोई सैनिक व्यवस्था न हो, तो भारत अपनी उत्तरी सीमा पर तैनात अधिकांश बल को हटा कर अपने सैन्य खर्च में बड़ी कटौती कर सकता है और अपनी पंचवर्षीय योजनाओं का बजट बढ़ा सकता है। यहाँ एक अत्यन्त शान्तिपूर्ण सीमा का निर्माण हो सकेगा जो इस क्षेत्र में ही नहीं बल्कि समूचे विश्व में भी शान्ति स्थापना में सहायक होगा। आज तिब्बतियों के मन में चीन के प्रति वैर भाव है जो भारत के लिए लाभदायक है। यदि किसी दिन तिब्बत हमेशा के लिए चीनियों का क्षेत्र बन गया तो यह केवल तिब्बत का अंत नहीं होगा बल्कि भारत के लिए भी एक स्थायी खतरा बन जायेगा। पूरा परिदृश्य परिवर्तित हो जायेगा।

(परम पावन दलाई लामा)

भाग दो

वर्त्तमान

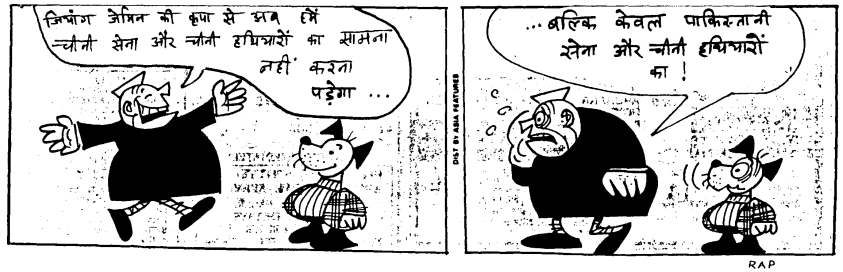

blank

तिब्बत : संसार का अंतिम उपनिवेश

निर्मल वर्मा

'तिब्बत हमारी शती का अंतिम उपनिवेश है, जिसकी सांस्कृतिक अस्मिता कभी भी नष्ट हो सकती है।' (बीसवीं सदी की उल्लेखनीय घटनाओं की रिपोर्ट) – यह किसी पत्रकार की नाटकीय अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि यह हमारे पड़ोसी देश की त्रासद नियति का भयावह खुलासा है, जिसकी संस्कृति; राजनीतिक अस्मिता और पर्यावरण को पिछले पैंतीस वर्षों से योजनावत तरीकों से ध्वस्त किया जा रहा है। हमारे समय में नात्सियों द्वारा यहूदियों के नरसंहार – जेनोसाइड – के बाद शायद यह दूसरी घटना है, जब एक विशिष्ट जन-समूह की समूची जातीय नस्ल को नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है – अंतर सिर्फ इतना है कि जो कुकृत्य नात्सी नेता लुके-छिपे कर रहे थे, आज यह दिन-दहाड़े खुलेआम हो रहा है, और जो राष्ट्र इसके लिए उत्तरदायी है, उस पर उँगली उठानेवाला कोई नहीं। क्या यह संभव है कि हमारे एक निकटवर्ती देश, जिसके साथ हमारे हजारों वर्ष पुराने सांस्कृतिक संबंध रहे हैं, जिसके लाखों निवासी अपनी भूमि से उन्मूलित होकर हमारे देश में शरणार्थियों की तरह रह रहे हैं, हम मूक दर्शक की तरह मुँह में ताला लगाए उसकी सांस्कृतिक संपदा को लुप्त होते देखते रहें और कुछ न कहें?

यह सत्य है कि 1959 में तिब्बत पर चीनी आक्रमण के बाद भारतीय सरकार ने दलाई लामा और उनके देशवासियों को न केवल शरण दी है, बल्कि उनकी शैक्षिक संस्थाओं और धर्म-संस्थानों को प्रचुर आर्थिक सहायता भी दी है। यदि आज तिब्बत के बाद तिब्बत की सांस्कृतिक अस्मिता सुरक्षित रह सकी है, तो इसका बड़ा श्रेय जवाहरलाल नेहरू की सौहार्दपूर्ण नीतियों को जाता है। इनमें न केवल तिब्बत की विपदा के प्रति सहानुभूति का भाव था, बल्कि दलाई लामा के प्रति एक गहरा पाप-बोध भी था, जो बरसों नेहरू जी की सलाह पर चीनी सरकार के छलावों का शिकार बनते रहे। चीन की कम्युनिस्ट सरकार के प्रति नेहरूजी ने जो सुखद भ्रम पाल रखे थे, जब तक उनके प्रति मोह भंग होता, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। **अपने समस्त समझौतों को तोड़कर जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया, तब वह उससे कम अनैतिक और भयावह नहीं था, जो एक समय में नात्सी जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया के साथ किया था। इन दो ऐतिहासिक त्रासदियों के बीच एक और अद्‌भुत समानता थी – बड़े महाबली राष्ट्रों की तटस्थ चुप्पी। हिटलर की महत्वाकांक्षाओं को तुष्ट करने के जो घातक परिणाम समूची मानवता को भुगतने पड़े, उन्हें भुलाकर आज चीन के साथ हर तरफ से जो आर्थिक और व्यापारिक संबंधों को बनाने की आकुलता दिखाई देती है, इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है? इतिहास से क्यों**

हम कुछ नहीं सीखते ? क्या इसीलिए वह अपने को दुहराता रहता है ?

पश्चिमी राष्ट्रों की बात एक क्षण के लिए छोड़ भी दें, जिनके लिए किसी देश में मानवाधिकारों का प्रश्न तब तक महत्व नहीं ग्रहण करता, जब तक वह देश स्वयं उनके स्वार्थो और राजनीतिक चालों की शतरंज में उपयोगी सिद्ध नहीं होता। तिब्बत की यातना के प्रति यदि इतनी गहरी अवहेलना और सनकीपन बढ़ता जाता है, तो सिर्फ इसलिए नहीं कि कुवैत, इराक, इस्त्राइल की तरह वह किसी सत्तामूलक कूटनीति के खेल में फिट नहीं होता, बल्कि इसलिए भी – और यह महत्वपूर्ण है – कि तिब्बत अन्य राष्ट्रों की तरह महज एक राजनीतिक इकाई नहीं है, उसका एक विशिष्ट सांस्कृतिक चरित्र है, जो शताब्दियों से बौद्ध धर्म की परंपराओं, आस्थाओं और निष्ठाओं से निर्मित हुआ है – सेक्यूलर देशों की भीड़ में एकमात्र धार्मिक संस्कारों का वाहक भिक्षुक देश, ऐसे देश के लिए राजनीतिक स्वायत्तता सिर्फ एक साधन है, जिसके आधार पर वह बिना किसी डर व दबाव के अपनी विलक्षण और अनूठी अस्मिता को सुरक्षित रख सके।

कुछ महीने पहले धर्मशाला में होनेवाली एक विचार-गोष्ठी में बौद्ध भिक्षुक और मनीषी रिनपोचेजी ने अपने मर्मस्पर्शी शब्दों में इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए कहा था कि जिस बड़े पैमाने पर तिब्बत की सांस्कृतिक धरोहर को चीन द्वारा नष्ट किया जा रहा है, प्राचीन पुस्तकालयों से पांडुलिपियों को निकालकर जलाया जाता है और उनकी मूल्यवान् कवर-जिल्दों को अलग करके डालरों के मोल बेचा जाता है, धार्मिक संस्थानों को दूषित किया जाता है और हजारों की संख्या में तिब्बती निवासियों को अपना देश छोड़कर चीन में बसने को बाध्य किया जाता है, ताकि बड़ी संख्या में चीनियों को तिब्बत में बसाकर तिब्बतियों को अपने ही घर में 'अल्पसंख्यक' सिद्ध किया जा सके, उसे देखकर लगता है कि कुछ वर्षों बाद तिब्बत की सांस्कृतिक और धार्मिक अस्मिता बिल्कुल नष्ट हो जाएगी। उसके नष्ट हो जाने के बाद यदि तिब्बत को अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता मिल भी जाती है, तो उसका राख बराबर भी मूल्य नहीं रहेगा। आज जब हमारे देश में राजनीति और धर्म के बीच अलगाव की बात की जाती है, तो रिनपोचेजी के ये उद्‌गार हमारे लिए अतिरिक्त रूप से प्रासंगिक हो जाते हैं।

धर्म और संस्कृति की यही वह समान विरासत है, जो भौगोलिक सीमाओं से कहीं अधिक सार्थक रूप में तिब्बत को भारत के इतना निकट ला देती है। क्या हमें यह कुछ अजीब नहीं लगता कि दोनों देशों के बीच जिस प्राचीन और पवित्र संबंध की महिमा का गुणगान दलाई लामा जी अपने हर भाषण में करते हैं, उसके बारे में हमारे अधिकांश राजनेता और रेडिकल बुद्धिजीवी चुप रहना पसंद करते हैं। विश्वास नहीं होता कि इस चुप्पी का कारण केवल अज्ञान हो सकता है। आखिर पिछले अनेक वर्षों से राहुल सांकृत्यायन जैसे मनीषी

पर्यटक, राममनोहर लोहिया जैसे प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ, आचार्य नरेंद्र देव और गोविंद चंद्र पांडे जैसे बौद्ध दर्शन के विज्ञ इतिहासकारों ने इस पारंपरिक संबंध को अनेक कोणों से उजागर किया है। यह उल्लेखनीय है कि तिब्बत पर आक्रमण करने से पहले स्वयं चीन के कम्युनिस्ट नेता भारत-चीन की सीमा वार्ताओं में तिब्बत और भारत के बीच विशेष सांस्कृतिक संबंध को स्वीकार करते आए थे। आज यदि वे इसकी चर्चा करते हुए कतराते हैं, तो बात समझ में आती है। जो बात समझ में नहीं आती, वह हमारे राजनेताओं की चुप्पी है। क्या तिब्बत हजारों वर्षों से चीन और भारत की सीमओं को जोड़नेवाला 'सेतु' बफर स्टेट नहीं रहा है? क्या उसके प्रतिनिधियों की शिरकत के बिना दोनों देशों के बीच होनेवाली कोई भी सीमा वार्ता सफल हो सकती है?

यह इसलिए भी जरूरी है कि **चीन के आधिपत्य तले आज विकास के नाम पर जो कुछ भी दुर्गति तिब्बत में हो रही है, उसका दुष्प्रभाव समूची हिमालय-श्रृंखला में बसे प्रदेशों के पर्यावरण – उसके नदी-नालों, उसकी वन्य संपदा, उसके वायुमंडल पर पड़ता है। इसमें से बहुतों को याद होगा कि एक समय में हमारे देश के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और राजकर्मियों ने इसी दुर्गति और विकास की दुहाई देकर तिब्बत पर चीन के आक्रमण को वैध और वांछनीय ठहराया था।** इस औचित्य के पीछे उनके मन में तिब्बत की 'प्रतिक्रियावादी, पिछड़ी, अंधविश्वासी' धार्मिक परंपराओं के प्रति जो वितृष्णा थी, उसकी चर्चा मैं यहाँ नहीं करूँगा (देखने लायक बात है कि प्रगतिवाद और 'धर्मनिरपेक्षता' का रिश्ता कोई नई बात नहीं है)। मैं यहाँ इस प्रगति अभियान के उन प्रत्यक्ष परिणामों की ओर संकेत करना चाहूँगा, जिसके चलते आज तिब्बत जैसा शांतिप्रिय देश चीन के सैन्यीकरण का मुख्य अड्डा बन चुका है। जिस देश को कभी 'दुनिया की उजली, स्वच्छ और सफेद छत' माना जाता था, आज वह आणविक अस्त्रों का रेडियो-कचरा फेंकने का कूड़ा-दान बन गया है।

इसके कारण धीरे-धीरे उन सब नदियों का जल भयानक रूप से दूषित हो गया है, जिनका उद्‌गम-स्थल तिब्बत है। ये नदियाँ ऑक्सस, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, इरावदी आदि दक्षिणी एशिया के अनेक देशों में बहती हैं, जिनमें भारत और बांग्लादेश जैसे घनी आबादी वाले देश भी हैं। सबसे चिंतनीय बात यह है कि न केवल चीन, बल्कि अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों में भी चीन ने विदेशी मुद्रा देकर यह छूट हासिल कर ली है कि वे भी तिब्बत में अपना आणविक रेडियो-कचरा फेंक सकें। तिब्बत के जंगलों को काटकर उसकी लकड़ी को जिस पैमाने पर चीन में भेजा जाता है, यदि यह प्रक्रिया कुछ वर्षों तक जारी रही, तो तिब्बत का समूचा वन्य स्थल एक मरुस्थल में परिणत हो जाएगा। जब हमारे प्रतिनिधिमंडल चीन की यात्रा से लौटकर उसकी औद्योगिक प्रगति और भौतिक संपन्नता की बात करते हैं, तो शायद भूल जाते हैं कि वह किस मूल्य पर और किसके लहू-प्राणों पर अर्जित की हुई प्रगति और संपन्नता है।

यदि यह सिर्फ तिब्बत के पर्यावरण के दूषण का ही प्रश्न होता तो हम उसे इतना तूल न देते। उसे आधुनिक युग की आम बीमारी मानकर छुट्टी कर लेते। किंतु तिब्बत (और भारत) जैसे **परंपरा-संपन्न देशों में पर्यावरण का गहरा रिश्ता उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता के साथ जुड़ा होता है। ये जंगल, पहाड़, नदी-नाले केवल भौगोलिक 'वस्तुएँ' नहीं हैं। ये वे प्रतीक और रूपक हैं, जिनके सहारे एक धर्म-प्रधान संस्कृति अपने साहित्य के अपादान, अपनी आस्थाओं के आलोक-द्वीप, अपनी मिथक कथाओं की प्राणवत्ता हासिल करती है। जब हम किसी जंगल को नष्ट करते हैं, किसी नदी को दूषित करते हैं, उनके बीच साँस लेनेवाली अनेक कथाएँ, प्रथाएँ, अनुष्ठान, स्मृतियाँ और स्वप्न अपने आप मुरझाने लगते हैं।**

यह बात तिब्बत जैसे देश पर और भी अधिक सच्चाई से लागू होती है, जिसके निवासियों ने हजारों वर्षों से अत्यंत परिष्कृत स्तर पर अपने ज्ञान, विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र और महायान बौद्ध दर्शन की रहस्य-गुत्थियों को अपनी संचित परंपराओं में संयोजित किया है। हिमालय का समूचा पर्वतीय अंचल – लद्दाख, कश्मीर, तिब्बत, नेपाल – एक तरह से उसी समान सांस्कृतिक संपदा की धरोहर को सँभाले हैं, जो भारत की मनीषा से इस तरह अंतर्गुंफित है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना असंभव लगती है। मानव विज्ञान के सुप्रसिद्ध विद्वान् लेवी स्त्रॉस ने एक बार कहा था, कि जब हम किसी विशिष्ट जीव, पौधे, वृक्ष की नस्ल नष्ट कर देते हैं, तो वह हमेशा के लिए लुप्त हो जाती है, जैसे कभी उसका अस्तित्व रहा ही न हो। आज यदि हम तिब्बत की इस अनमोल सांस्कृतिक अस्मिता को अपनी उपेक्षा और चुप्पी के कारण नष्ट होने देते हैं, तो वह हमारी नैतिक कायरता का अद्‌भुत प्रमाण तो होगा ही, अपनी सांस्कृतिक विरासत के साथ अक्षम्य विश्वासघात भी होगा।

[1997]

मैकमहोन रेखा, तिब्बत और भारत

सुनंद के. दत्ता रे

कहा जाता है कि जब चीन ने भारत सरकार को 1950 में सूचित किया कि उन्होंने तिब्बत को मुक्त करा दिया है, तो नेहरू जी ने पूछा था –''मुक्त किया! मगर किससे?''

पहले जब ब्रिटिश-भारत ने सिक्किम के दार्जिलिंग क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था और वहाँ सड़क बनाने के लिए पहाड़ियाँ उड़ाने लगे तो वहाँ खड़े एक वृद्ध भुटिया ने दार्जिलिंग के पहले ब्रिटिश कमिश्नर से कहा था–''साहब, इस पाउडर की आवाज तो ल्हासा में भी सुनाई देगी।'' खैर, मैं इतनी आशा तो नहीं करता कि मेरे शब्दों की आवाज फिलहाल वास्तविक राजनीति में कोई परिवर्तन लायेगी। लेकिन मैं इतना जरूर सोचता हूँ कि साउथ ब्लॉक – हमारा विदेश मंत्रालय – जो अधिक निकट है, यहाँ कही गयी बातों को समझेगा और क्या पता, शायद कुछ कार्रवाई भी करे।

मैं भारत की भूमिका पर जोर दे रहा था। भारतीय भूमिका होनी ही चाहिए, क्योंकि एकतरफा निर्णय वैधानिक रूप से चाहे जो भी हों, राजनीति में कभी भी व्यवहारिक या कारगर नहीं होते। ब्रिटिश-भारत और चीन के बीच हुआ कलकत्ता सम्मेलन मेरे दिमाग में है, क्योंकि इसमें ब्रिटिश साम्राज्ञी और चीनी सम्राट ने आपस में फैसला कर लिया कि सिक्किम अब से ब्रिटिश संरक्षण में रहेगा। पर इस फैसले में न तो सिक्किम की जनता की कोई भागीदारी थी और न ही तिब्बत की, जो सिक्किम पर एक तरह के अस्पष्ट अधिकार का दावा रखता था। फलतः दोनों ने ही तुरंत इस फैसले को मानने से इन्कार कर दिया। एकतरफा निर्णयों और कार्रवाइयों के यही छिपे खतरे होते हैं। लेकिन भारत सरकार वास्तविकता के अपेक्षाकृत निकट है और हम इसे संबोधित कर सकते हैं, क्योंकि इस मामले में इसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

मेरा कहना यह नहीं है कि भारत को [तिब्बत के लिए] 1971 की तरह दूसरा मुक्तियुद्ध लड़ना चाहिए। मैं यह भी नहीं कहता कि भारत को दूसरी शान्ति सेना भेज देनी चाहिए, इस बार पर्वतों के पार। न ही मैं यह चाहता हूँ कि हमें कोई त्वरित सैन्य बल भेज देना चाहिए, जैसा मालद्वीव में किया गया था। लेकिन एक दूसरी सांकेतिक प्रक्रिया भी है जिसे ''अन्य साधनों द्वारा लड़ाई'' कहा जाता है। उसमें निश्चित रूप से भारत के लिए यह स्पष्ट करने का अच्छा अवसर होगा कि वह तिब्बत में केवल मानवतावादी रूचि नहीं लेता, बल्कि एक स्वशासी, स्वाधीन तिब्बत उसके स्वयं के हितों की रक्षा के लिए भी आवश्यक है।

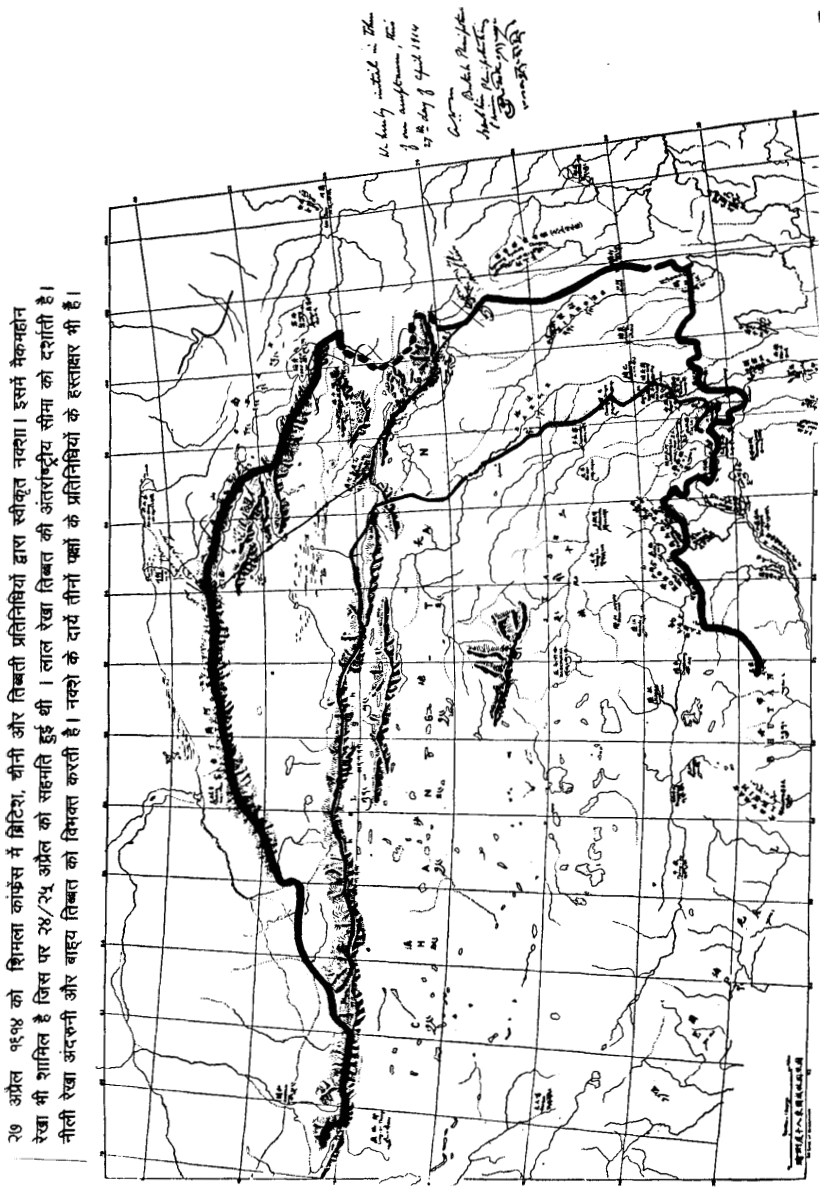

२७ अप्रैल १९५४ को शिमला कांफ्रेंस में ब्रिटिश, चीनी और तिब्बती प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत नक्शा। इसमें मैकमहोन रेखा भी शामिल है जिस पर २४/२५ अप्रैल को सहमति हुई थी। लाल रेखा तिब्बत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा को दर्शाती है। नीली रेखा अंदरूनी और बाह्य तिब्बत को विभक्त करती है। नक्शे के दायें तीनों पक्षों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर भी हैं।

मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि तिब्बत पर हमारे रूख का मुख्य आधार भय है। देश में एक धारणा बन गई है कि हमें तिब्बत के बारे में कुछ भी वहीं तक कहना चाहिए, जहाँ तक वह चीनियों को नाराज न करे और हमारे सीमा-संबंधी मुद्दों को प्रभावित न करे। और इस रूख की अति भी हो सकती है। मेरे ख्याल से, अक्तूबर 1987 में, विदेश मंत्रालय के एक प्रवक्ता ने घोषणा की थी कि भारत सरकार ने दलाई लामा से कहा है कि उनकी कुछ बातें और उनके अनुयायियों की कुछ गतिविधियाँ सरकार को पसंद नहीं हैं। वस्तुत: ऐसा कोई संदेश परम-पावन दलाई लामा या धर्मशाला में उनके निजी दल को नहीं भेजा गया। लेकिन नई दिल्ली ने इस तरह की घोषणा को जगजाहिर करना जरूरी समझा, ताकि चीनी संतुष्ट रहें। इस तरह की हरकतें सबसे अधिक खेदजनक हैं क्योंकि हमने ही 1959 में परम-पावन दलाई लामा और बड़ी संख्या में अन्य तिब्बतियों को देश में आदर और सम्मान से रहने का स्थान देने का साहसिक कार्य (जहाँ श्रेय है, वहाँ दें) किया था।

पूरे यूरोप में निर्वासित सरकारें और तरह-तरह के ताजों के दावेदार हैं। यदि आप पुर्तगाल जायें तो बार और रेस्तराँ में ढेरों राजे-महाराजे भटकते मिलेंगे। उनके प्रति पूरे सम्मान के बावजूद मैं कहूँगा कि उनकी स्थिति वह नहीं है जैसी कि तिब्बत के दलाई लामा को हमारे देश और हमारे समाज में मिली है।

यह उस आदर का परिचायक है जो भारत की जनता दलाई लामा को देती हैं और उस आदर का भी जो भारत सरकार राजनैतिक तकाजों के बावजूद तिब्बती नेताओं को देती है।

लेकिन फिर भी तिब्बत के मामले में भारत द्वारा किसी सुनिश्चित कार्रवाई का अभाव दिखता है। जब मैं पत्रकार होने के नाते, विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता से पूछता हूँ कि हम तिब्बत के बारे में क्यों नहीं बोलते, तो मुझे यह विश्वास दिलाया जाता है कि हम बोलते हैं, लेकिन अंदरूनी रूप से। क्योंकि एक तो, उनके अनुसार ये अंदरूनी संपर्क-सूत्र ज्यादा कारगर होते हैं और दूसरे, ये चीनियों को नाराज भी नहीं करते। लेकिन शेष विश्व तो यह नहीं जानता! और यही बात हमने अफगानिस्तान में सोवियत उपस्थिति के बारे में भी कही थी। लेकिन शेष विश्व न तो यह सब जानता है और न ही इस पर विश्वास करता है। वह हमारे नेताओं की बातों की तुलना करता है श्री मित्तरां या बिल हेडन, ऑस्ट्रेलिया के वर्तमान गवर्नर-जनरल, की बातों से। बिल हेडन जब ऑस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री थे तब उन्होंने ल्हासा में ही और वह भी एक राजकीय भोज के दौरान तिब्बत में मानवाधिकारों के उल्लंघन के बारे में प्रश्न उठाया था।

यह कहना आश्चर्यजनक है कि भारत को तिब्बत के बारे में अपना दृष्टिकोण साफ नहीं करना चाहिए या यह कर्त्तव्य छोड़ देना चाहिए। क्योंकि अब तक यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए थी कि इस प्रकार राजनीति में समर्पण की नीति कभी प्रभावी नहीं होती। मैं सिर्फ

एक उदाहरण देना चाहूँगा: 1954 के भारत-चीन समझौते में भारत ने स्वेच्छा से तिब्बत में अपने वे क्षेत्रेतर अधिकार छोड़ दिये, जो उसे ब्रिटिशों से विरासत में मिले थे। हालाँकि नेहरू जी का यह मानना ठीक ही था कि किसी दूसरे देश में अपने सैनिकों को तैनात करना, अतिथि-गृहों और डाक-सेवा का संचालन करना साम्राज्यवाद की निशानी होगी। लेकिन व्यवहारिक राजनीकि के तकाजे के अनुसार उन्हें इसके बदले चीन से भी बराबरी का त्याग माँगना चाहिए था। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि चीनी कृतज्ञतावश स्वयं ही वह छूट दे देंगे जो भारत को चाहिए। पर चीन से नेहरू को मिले कड़वे घूँट से भी शायद कोई सबक नहीं लिया गया।

यह मुद्दा उठाने पर कहा जाता है कि भारत-चीन के संवेदनशील संबंधों में बाहरी मुद्दे लाना अच्छी कूटनीति नहीं होगी। मैं यह कहता हूँ कि तिब्बत बाहरी मुद्दा है ही नहीं। हमें तो सिर्फ **यह देखना चाहिए कि चीन किस तरह अपनी नीतियाँ संचालित करता है। जब गोर्बाचोव चीन आने के इच्छुक थे तब चीनियों ने दो शर्तें रखी थीं। पहली - अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं को हटाना, और दूसरी - कम्बोडिया से वियतनाम का अलगाव। अब सोवियत-चीन संबंधों में अफगानिस्तान और कम्बोडिया से ज्यादा बाहरी और क्या हो सकता है? फिर भी ये दोनों ही चीन की प्राथमिकताओं में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। और चीन ने सोवियत संघ से इनकी माँग करने और पाने का यह अच्छा अवसर समझा ।** लेकिन यही स्थिति अगर भारत के साथ होती तो हम शायद ही चीन की कूटनीतिक चालों की बराबरी करते।

हमें तिब्बत के मामले में ऐसा क्यों करना चाहिए? क्यों हमें सीमा-संबंधी वार्ताओं में तिब्बत को एक निश्चित स्थान देने पर भी विचार करना चाहिए? यदि हम इतिहास में लौटें तो गंगटोक में ब्रिटेन के पहले राजनैतिक अफसरों में एक चार्ल्स बेल - जिन पर सिक्किम, भूटान और तिब्बत की जिम्मेदारी थी - ने कहा था कि तिब्बत की चुम्बी घाटी भारत के हृदय पर रखी हुई एक नुकीली कटार के समान है। और हम उसी कटार को कुंद करना चाहते हैं। यदि आप सिक्किम सीमा पर नाथूला तक जायें, तो पायेंगे कि वहाँ चीनी टुकड़ियाँ भरी पड़ी हैं। वहाँ से यांगत्से तक की पुरानी सड़क केवल सैनिक वाहनों द्वारा प्रयोग की जाती है, जबकि यह परम्परागत व्यापार-मार्ग था। चीनी सैनिक वहाँ उस विन्दु तक है जहाँ से चुम्बी का दक्षिणी छोर और बंगला देश का उत्तरी छोर सिर्फ साठ-सत्तर मील है - गंगा ब्रह्मपुत्र मैदानों से मात्र साठ-सत्तर मील।

हमारे लिए तिब्बत की अलग पहचान पर जोर देने का सुरक्षा-कारणों के अलावा एक और महत्वपूर्ण राजनीतिक कारण भी है। और यह कारण है - मैकमहोन रेखा। भारत-चीन के सारे संबंध मैकमहोन रेखा पर ही निर्भर करते हैं। यह सभी को पता है कि भारत का

अक्सई-चिन और अन्य चौदह हजार पाँच सौ वर्गमील क्षेत्र अभी अवैध रूप से चीन-अधिकृत है। मैकमहोन रेखा हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि अरूणाचल प्रदेश, असम और संपूर्ण उत्तर-पूर्व की सुरक्षा इसी पर निर्भर करती है।

मैकमहोन रेखा का अस्तित्व, तिब्बत के एक स्वतंत्र, सार्वभौम देश के रूप में अस्तित्व पर ही निर्भर करता है। मैं 1914 के शिमला सम्मेलन की विस्तृत चर्चा तो यहाँ नहीं करूँगा, लेकिन मैं परम-पावन दलाई लामा को उद्धृत करना चाहूँगा - ''भारत सरकार यह मानती है कि भारत और तिब्बत की सीमा मैकमहोन रेखा के अनुसार तय हुई है। यह सीमा शिमला सम्मेलन में तय हुई थी और यह सम्मेलन केवल तिब्बत और ब्रिटिश सरकार के बीच हुआ था। यदि निर्णय के समय तिब्बत का कोई स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व नहीं था तो इसे इस प्रकार के समझौते में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं था। अत: यह स्पष्ट है कि यदि आप तिब्बत को सार्वभौम देश नहीं मानते तो आप शिमला सम्मेलन को भी नहीं मानते और इसलिए आप मैकमोहन रेखा को भी मान्यता नहीं देते।''

भले ही यह असाधारण लगे, पर हमारा विदेश मंत्रालय ठीक यही करता है। इसके प्रवक्ता कहते हैं: हम तिब्बत को चीन का एक स्वशासी क्षेत्र मानते हैं और चीन के आंतरिक मामलों पर कोई टिप्पणी नहीं करते। पर वे यह नहीं कहते कि हम दक्षिण अफ्रीका और फिजी के आतंरिक मामलों पर टिप्पणी करते हैं। लेकिन वह अलग बात है।

यदि तिब्बत 1914 में स्वाधीन नहीं था, तो शिमला सम्मेलन में इसकी भागीदारी भी ठीक नहीं थी और तब इस सम्मेलन में जो समझौता हुआ वह भी ठीक नहीं था। फिर तो मैकमहोन रेखा सही में उतनी ही अमान्य है जितनी कि चीनी कहते है। सत्य तो यह है कि भारत अपनी सीमाओं की रक्षा तिब्बत की स्वतंत्रता को माने और निश्चित किये बिना नहीं कर सकता। यह जोखिम से भरी कूटनीति है और इस मामले में हम वाकई परमपावन दलाई लामा के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने हमें ऐसी स्थिति से निपटने का मार्ग बताया। उनका स्ट्रॉसबर्ग प्रस्ताव तिब्बत की ऐतिहासिक, वैधानिक स्वतंत्रता और सार्वभौमिकता को मंजूर करने का रास्ता तो बताता ही है, साथ ही एक ऐसी सीमित व्यवस्था करने का रास्ता भी बताता है जिससे तिब्बत कुछ हद तक चीन का संरक्षित क्षेत्र ही रहे। लेकिन जबकि हम इस प्रस्ताव का समर्थन करने में भी झिझकते हैं, कि यह चीनियों को नाराज कर देगा, चीनी हमसे संबंधित प्रश्नों पर ऐसी कोई संवेदनशीलता नहीं दर्शाते।

सिक्किम के भारतीय राज्य बन जाने के चौदह वर्ष बाद भी चीन उसे मान्यता नहीं देता। कुछ ही समय पहले जब सिक्किमी राज-परिवार की एक सदस्या तिब्बत जाना चाहती थी तो काठमांडू स्थित चीनी दूतावास ने कहा - ''हाँ आप जा सकती हैं, लेकिन भारतीय

पासपोर्ट पर नहीं।'' वह भारतीय नागरिक बन चुकी थीं, उनके पास भारतीय पासपोर्ट था, लेकिन फिर भी वह चीनियों द्वारा दिये अनुमति पत्र *(Laissez passer)* पर ही अपने सम्बन्धियों से मिलने ल्हासा गईं।

दूसरा मुद्दा जिस पर चीन का उतना ही अड़ियल रवैया है – वह है अरूणाचल प्रदेश। लोगों को याद होगा कि अरूणाचल प्रदेश को राज्य बनाये जाने पर कितना हंगामा मचा था। मैं यह सब चीनियों पर आघात करने के उद्देश्य से नहीं गिना रहा, बल्कि इसलिए कह रहा हूँ ताकि आप देख सकें कि आप कूटनीति में केवल उस पर ध्यान देते हैं, जिसे आप अपने राष्ट्रीय हित समझते हैं। लेकिन चीन, सिक्किम और अरूणाचल प्रदेश को भारत का हिस्सा न मानने को भी अपने राष्ट्रीय हितों का ही एक भाग समझता है।

इसी प्रकार, **जब 1988 में भारत ने वर्तमान समझौता-प्रक्रिया के अर्न्तगत ''बीजिंग रिव्यू'' पत्रिका पर लगा लगभग 26 साल पुराना प्रतिबंध हटा लिया तो यह आशा की गई कि चीनी बदले में दोस्ताना व्यवहार करेंगे। लेकिन इसके बाद जो पहला ही अंक आया, उसमें यह बात दुहराई गई थी कि बीजिंग मैकमहोन रेखा को नहीं मानता । तो, दोस्ती के भारतीय हाथ को बार-बार यही बदला मिला है कि उसे झटक दिया गया।**

दलाई लामा ने हमें बड़ा ही सीधा-साफ रास्ता बताया है कि कैसे हम तिब्बती अधिकारों का समर्थन कर सकते हैं। इसके अनुसार हम सिद्धांत रूप में तिब्बत के सप्रंभु अधिकारों को स्पष्ट रूप में रख सकते हैं, पर व्यवहारिक रूप में इसकी माँग किये बिना ही। जो प्रस्ताव 1981 में विचार के लिए रखा गया था वह देंग सियाओपिंग के ''एक देश, दो व्यवस्थाएँ'' के फार्मूले पर आधारित था। तब यह प्रस्तावित किया गया था कि परमपावन दलाई लामा ल्हासा वापस जाने को तैयार हैं यदि तिब्बत की सीमाएँ फिर से निश्चित की जायें जिससे चीनी साम्राज्य में रह रहे सभी तिब्बती इसके अन्तर्गत आ जायें। और तिब्बत को केवल वही राजनीतिक और आर्थिक अधिकार दिये जायें जो चीन द्वारा ताइवान को दिये जाने का वादा किया गया था और जिन्हें वहाँ के क्वोमिनतांग शासन ने नामंजूर कर दिया था।

1951 के चीन-तिब्बत समझौते की दलाई लामा ने पुष्टि नहीं की जिसमें तिब्बत पर चीन का अधिपतित्व स्वीकार किया गया था। इसी तरह उनके 1981 के प्रस्ताव से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। लेकिन इन सबसे इन प्रस्तावों को फिर न दुहराने का कोई कारण नहीं है। चीन द्वारा ताइवान को प्रस्तावित नौ-सूत्रीय प्रस्ताव की अतिशय उदारता से सभी चकित हैं। हम हांगकांग को दी जाने वाली उन सुविधाओं के बारे में भी जानते है, जिनका चीन ने वादा किया है जब हांगकांग 1997 में चीन से जुड़ जायेगा। तब यह चीन का एक

विशेष-प्रशासित क्षेत्र हो जायेगा जिसकी व्यवस्था अपनी होगी।

यह दोनों ही बातें बताती हैं कि चीन का संवैधानिक ढांचा पूर्णत: रूढ़ नहीं है और इसमें आवश्यकतानुसार ढील दिया जाना असंभव नहीं है। जो सुविधाएँ चीनी ताइवान और हांगकांग को परिस्थितिवश देने को बाध्य हुए हैं, उन्हें वह तिब्बत को भी दे सकते हैं। लेकिन वह स्वेच्छा से कभी भी ऐसा नहीं करेंगे। उन्होंने ताइवान और हांगकांग को भी ये प्रस्ताव स्वेच्छा से नहीं दिए हैं। वे बाध्य थे यह कहने के लिए और ऐसी ही बाध्यता पैदा करना तिब्बत के मामले में भी आवश्यक है।

पिछले दो वर्षो से तिब्बती अपने गृह-प्रदेश में युद्ध में लगे हैं और उन्होंने यह दिखा दिया है कि वे कितनी बहादुरी से अपने हल के फालों को हथियारों में भी बदल सकते हैं। असुरक्षित होते हुए भी वे अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। लेकिन राजनीति में सिर्फ यही काफी नहीं होता। बाहरी दबाव भी पड़ना चाहिए। जो देश इसके लिए सबसे अच्छी स्थिति में है, वह निश्चय ही भारत है, और भारत को यह अधिकार भी है कि वह कूटनीतिक हलकों द्वारा चीन पर तिब्बत के अधिकारों के लिए दबाव डाले। आखिर तिब्बत के अधिकारों की घोषणा भारत के मैकमहोन रेखा से जुड़े सुरक्षा-हितों के लिए आवश्यक है। लेकिन ऐसा कुछ करने की बजाय, राजीव गाँधी ने चीन में रहते हुए, ज्योति बसु की तरह, कुछ भी नहीं कहा।

ब्रिटेन का रूख यह था कि हम [ब्रिटेन] तिब्बत पर चीन का अधिपतित्व स्वीकार लें लेकिन इस शर्त पर कि व्यवहार में चीन ऐसे किसी अधिकार का प्रयोग कभी नहीं करेगा। व्यवहार में तिब्बत ब्रिटिश-भारत के अधीन रहेगा, लेकिन सिद्धांतत: मंचूचीन का संरक्षित क्षेत्र होगा। लेकिन इस प्रकार के बटँवारे तभी तक टिकते हैं जबतक साम्राज्यवादी शक्तियाँ क्रियाशील हों। उनके कमजोर पड़ने पर ये बँटवारे भी असफल हो जाते हैं।

इसलिए उन तरीकों से भारत का रूख निश्चित करने की जरूरत नहीं है। अतीत में भारत ने इस प्रकार के जोड़-तोड़ से ऊपर उठने की क्षमता दिखाई है। मैं एक घटना याद कर पा रहा हूँ – 2500वीं बुद्ध जयंती पर नेहरू जी ने सिक्किम के चोग्याल को ल्हासा जाकर दलाई लामा को निमंत्रित करने को कहा था। यह यात्रा चीनियों को रास नहीं आई। लेकिन यह भारतीयों के लिए एक प्रकार की कूटनीतिक विजय थी और चीनियों के लिए एक झटका।

वह भावना, वह साहस, जिसने उस समय इस कदम को प्रेरित किया, अब धूमिल नज़र आती है। और यही भावना और साहस हमें फिर से पाना है, यदि अतीत से मुक्ति पानी है और तिब्बत की पहचान को स्वीकारना है तो।

यह पहचान, तीन-तरफा काम करेगी। एक तो यह अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद, जिसके बारे में हम बहुत सुन चुके हैं, को जगाने को कार्य करेगी। दूसरे, यह मैकमहोन रेखा के वैधानिक आधार को दृढ़ता देगी। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह कि बीजिंग को बता देगी कि भारत अब उपेक्षा करने योग्य सहयोगी नहीं है। एशिया की दोनों बड़ी क्षेत्रीय शक्तियों के बीच अच्छे संबंध निश्चित रूप से होने चाहिए, लेकिन ये संबंध सिर्फ एकतरफा समर्पण की बजाय किसी और तथ्य पर आधारित होने चाहिए।

चीन ने हाल में परस्पर सामंजस्य की बात कही है और श्री राजीव गाँधी ने परस्पर हितों की। लेकिन मेरा मानना है कि ये संबंध केवल परस्पर सम्मान पर ही आधारित हो सकते हैं। और यह सम्मान तभी जन्म लेगा जब भारत तिब्बत के लिए बोलना अपना वैधानिक और नैतिक अधिकार मान लेगा।

[1989]

भारत की निष्प्रभावी कूटनीति

राम जेठमलानी

मेरे शुरू के वकालत के दिनों में एक वकील की कहानी प्रचलित थी, जो अपने मुवक्विलों को एक जज से अपनी दोस्ती और पहुँच के बारे में बताकर प्रभावित किया करता था। एक व्यक्ति ने जाँचना चाहा। जज साहब जब आराम से अपने बगीचे में धूप में बैठे थे वकील साहब घुसे। मुवक्विल ने दूर से चकित होकर देखा कि जज ने वकील को काफी अपमानित किया, उसकी टोपी घास पर फेंककर अपने पैरों से उसे मसल दिया। फिर भी बिना परेशान हुए वकील साहब ने अपनी टोपी उठायी, उस पर से धूल झाड़ी और खुशी-खुशी अपने मुवक्विल के पास आकर गर्व से बोले - ''देखा, साला कितना बेतकल्लुफ है''। कहानी की विश्वसनीयता संदिग्ध हो सकती है लेकिन मुझे यह हमेशा याद आ जाती है, जब भी हमारे विदेश मंत्रालय के अधिकारी चीनी अधिकारियों से अपनी सबसे हाल की मुलाकात का ब्यौरा देते हैं।

पिछले महीने चीन के विदेश मंत्री और उपप्रधान मंत्री कियान किचेन भारत में कुछ देर के लिए रुके थे। राजा-महाराजाओं की तरह उनकी जी-हुजूरी में हमारे लोग जुटे रहे लेकिन वह ड्रेगन न तो हिला और न ही प्रभावित हुआ। उसने न तो शब्दों में और न ही व्यवहार में कोई मुरव्वत दिखायी। उसने ठीक वैसा ही व्यवहार किया जैसे उस जज ने वकील साहब के साथ किया था। फिर भी हमारे विदेश मंत्रालय के उच्चाधिकारियों ने मुस्कान ओढ़कर इस दौरे को ''द्विपक्षीय संबंध बढ़ाने'' की दिशा में एक और महत्वपूर्ण कदम बताया जो हमारे विदेश मंत्रालय की भाषा का जाना पहचाना मुहावरा है। पिछले जितने साल भी याद किये जा सकते हैं उनमें हम कभी भी यह साहस नहीं जुटा पाये कि चीनियों को यह बतायें कि वे हमारी भूमि के बड़े हिस्से पर कब्जा जमाए हुए हैं, कि इसका कुछ हिस्सा तब गुप्त रूप से हथिया लिया गया था जब नेहरू जी बांडुंग और पंचशील के सम्मोहन में भारत का भूगोल भूल गए थे और बाकी हिस्सों पर एक अपमानजनक आक्रामक युद्ध में कब्जा कर लिया गया था।

संसद के दोनों सदनों में एक गंभीर, सर्वसम्मत प्रस्ताव में यह शपथ भी थी कि भारत तब तक चुप नहीं बैठेगा, जब तक 1962 के युद्ध का अपमान धुल नहीं जाता और खोए हुए क्षेत्र का एक-एक इंच फिर वापस नहीं मिल जाता। शपथ और प्रस्ताव दोनों ही ठंढे बस्ते में पड़े रह गए। न तो उन्हें फिर याद किया जाता है और न ही खारिज किया जा रहा है। पर कोई भी सरकार इसका उल्लंघन नहीं कर सकती और न ही आत्मसम्मानी लोग उन्हें

दिमाग से निकाल सकते हैं। 32 वर्षो में न तो हमें एक इंच भी भूमि वापस मिली और ईमानदारी से सोचने पर दूर-दूर तक न ही इसकी कोई संभावना नज़र आती है। युद्ध विराम के बाद आधिकारिक टीमों ने बड़ी मेहनत से जाँचकर हजारों कागजात तैयार किए और सभी स्तरों पर अनगिनत वार्ताएँ की, लेकिन फिर भी सीमा-प्रश्न हल नहीं हो सका।

यह सत्य है कि भारत युद्ध नहीं कर सकता। हमें करना भी नहीं चाहिए। संयुक्त राष्ट्र की हमारी सदस्यता, इसके चार्टर के प्रति हमारी प्रतिबद्धता और हमारी अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियाँ, हमारे नीति निर्देशक तत्वों की इक्यानवीं धारा - यह सभी युद्ध को विदेश नीति का औजार बनाने के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन वह चार्टर और हमारा संविधान हमें युद्ध का बहिष्कार करने को कहता है, अपने स्वाभिमान का बहिष्कार करने को नहीं।

चीनी अधिकारी तथा सरकार जो भी समझें, हमारी अपनी समझ और भारतीय पक्ष का सम्मान ही विवाद का मूल प्रश्न है। क्या हम यह मानते हैं कि 1962 में चीन ने भारत पर बिना किसी भड़कावे के आक्रमण किया था? क्या हम ये मानते हैं कि उन्होंने उस भूमि पर अधिकार किया है जो पूर्णत: ओर वस्तुत: भारतीय क्षेत्र है? क्या हम अब भी संसद के प्रस्ताव पर दृढ़ हैं और राष्ट्रीय शपथ को पूरा करना चाहते हैं या फिर देश को धीरे-धीरे 1962 के अपमान को भूलने के लिए अनुकूलित करते जा रहे हैं? सच है, 1962 को याद करना कष्ट दायक है। यह अपने नेताओं के तुरंत भरोसा कर लेने वाली बचपने की आदतों और राष्ट्रहित की अक्षम्य उपेक्षा की याद दिलाता है। यह हमें याद दिलाता है कि कैसे नेताओं ने उन पर विश्वास करने वाले अपने देश से सच्चाई छुपाई, जबकि उनकी जानकारी में चीनी भारत माता को कुतर रहे थे। यह हमें उस त्रासद अहंकार की याद दिलाता है - जब इस विषय पर थोड़ा भी सोचे बिना कि हम चीन पर सैनिक कार्रवाई कर भी सकते हैं या नहीं, हमारे महान नेता ने कोलम्बो के रास्ते से ही घोषित किया कि उन्होंने भारतीय सेना को चीनियों को निकाल फेंकने का आदेश दे दिया है। यह हमें आज सोचने के लिए मजबूर करता है कि कैसे हमारे नेता अज्ञानी होने के साथ-साथ अस्थिर भी थे। मगर हमलोग स्वभाव से चाटुकार हैं। हम लोग उन महान नेताओं की ईमानदार समीक्षा से बचते हैं, जिनके नाम से हम राजनैतिक लाभ उठाते हैं। स्वाभाविक है कोई भी ईमानदार विश्लेषण इसका भाव गिरा देगा।

पहले ही हमारे पास शर्मिंदा होने के कई कारण हैं। हमने थियेनअनमन चौक के हत्याकांड पर अपना मुँह तक नहीं खोला, जो उन साहसी युवकों की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक अधिकारों का शर्मनाक और क्रूर अतिक्रमण था। वे युवक जो एक महान कार्य के लिए जान देने को तैयार थे और शहीद बन गए। हमने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया और इसकी भरपाई दलाई लामा और उनके थोड़े से सहयोगियों को अपने यहाँ राजनैतिक शरण

देकर करने की कोशिश की। लेकिन उस अभागे और पूर्णत: अहिसंक मुल्क को चीन की क्रूरता से बचाने के लिए यह कोशिश नहीं के बराबर ही है। हमने अपने राष्ट्रीय हितों के विपरीत ताइवान से किनारा कर लिया, उससे अछूतों की तरह व्यवहार करते रहे। ऐसा करने में हमने अपनी संवैधानिक प्रतिबद्धता, जो अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार चलने को कहती है, को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया। ताइवान सरकार ज्यादा स्थिर है और मुख्य भूमि की सरकार से ज्यादा ही लोकतांत्रिक है। यहाँ के लोग नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकारों को उपभोग करते हैं। यह देश स्वतंत्रता से कार्य करता है। इसका विदेशी मुद्रा भंडार लगभग 85 बिलियन अमरीकी डॉलर है। सरकार का उसके आधिपत्य के पूरे क्षेत्र में नियंत्रण है। उसके दो करोड़ से ज्यादा नागरिक देश के प्रति पूरी तरह वफादार हैं। ताइवान की सरकार भी वास्तविक मान्यता की अधिकारी है। हालाँकि अनेक देशों द्वारा यह किया भी गया है लेकिन इस दिशा में हमने कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। आज मुख्य भूमि के चीनी भी ताइवानियों से पूँजी निवेश चाहते हैं। हांगकांग के जरिए खरबों ताइवानी डॉलर मुख्यभूमि चीन में जा रहे हैं। सभी व्यवहारिक कारणों से ताइवान चीन से भी मान्यता पाने का अधिकारी हो गया है, लेकिन हम एक सही और समझदार कदम उठाने तक से डर रहे हैं। हमने बड़े निवेश तो खोए ही, साथ-साथ चीन के साथ एक तोल-मोल की क्षमता भी। नरसिम्हा राव के पिछले साल के नुकसानदेह कार्य के अगले कदम के रूप में पिछली जुलाई के पहले सप्ताह में भारत-चीन संयुक्त कार्यदल की एक बैठक बीजिंग में हुई। चीनी प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व उनके उप-विदेश मंत्री तांग जियाक्सुआन ने और भारतीय प्रतिनिधिमंडल का हमारे विदेश सचिव के. श्रीनिवासन ने किया। कहा गया कि इसमें पिछले साल के शान्ति समझौतों के कार्यान्वयन पर विचार किया गया। हमारे विदेश मंत्रालय ने अपनी चिरपरिचित भाषा में कहा कि दोनों ही पक्ष पूरी तरह संतुष्ट हैं, सीमा बिल्कुल शान्तिपूर्ण है और आपसी विश्वास बढ़ाने के प्रयास प्रगति पर हैं।

सीमा पर शान्ति है यह तो समझ में आता है मगर फिर आपसी विश्वास बढ़ाने संबंधी प्रयासों का क्या मतलब है यह मेरी समझ से बाहर है! क्या इसका मतलब यह है कि चीनी हमारी सरकार को सिखा रहे हैं कि कैसे इतना विश्वास लाया जाय कि वे भारत की जनता को यह बता सकें कि 1962 को एक दु:स्वप्न की तरह भूल जाना ही बेहतर है और हम अपना ध्यान हिमालय से हटाकर अयोध्या के मंदिर की ओर दें, जिसे एक ही हफ्ते बाद नरसिंह राव ने फिर से बनवाने का आश्वासन दिया।

हमारी विदेश नीति के कर्णधारों में सबसे बड़ा अभाव है व्यवहारिकता का। वे यह जानने में असफल सिद्ध हुए हैं कि चीनी पुराने तरह की कूटनीति में सिद्धहस्त हैं जो आखिरकार अपने विरोधी को थका देती हैं और उससे अपना ही उद्देश्य भुलवा देती है।

भारत के अपमान की इंतहा कियान किचेन ने की, जिसने बड़े घमंड से हमें अपने संक्षिप्त दौरे में बताया कि चीन अब भी सिक्किम को भारत का हिस्सा नहीं मानता और सीमा पर सैनिक शक्ति में कमी तभी की जाऐगी जब ''जो आगे बढ़ा वही पहले पीछे लौटे'' के सिद्धान्त पर अमल किया जायेगा। दूसरे शब्दों ने चीनियों ने पूरी बिसात ही पलट दी और अब हमारी ही भूमि पर खड़े होकर हमें आक्रमणकारी बताया जा रहा है। घोषणा की जा रही है कि चीन पाकिस्तान को सैनिक सामग्री की आपूर्ति जारी रखेगा और एम-11 मिसाइलों की बिक्री भी नहीं रोकेगा।

दूसरी ओर भारतीय प्रवक्ता उत्साह से गद्‌गद्‌ होकर बताते हैं कि चीन के साथ व्यापार 41 लाख रुपयों तक पहुँच गया है। बैंक और लोहा-इस्पात उद्योग में सहयोग के लिए हम इच्छुक हैं। इस पर कियान की प्रतिक्रिया थी कि व्यापारियों को ही एक-दूसरे से यह सब बातें करने दीजिये।

पूरे मामले का सार-संक्षेप यही है कि हम अपनी मोलभाव करने की सारी शक्ति गंवा चुके हैं। बेकार हो चुकी है हमारी कूटनीति और बेकार है हमारी विदेश नीति का संचालन।

[1994]

भारत की चीन समस्या

ए. पी. वेंकटेश्वरन

'ताओ ते चिंग' चीन की सबसे प्रसिद्ध ज्ञान की पुस्तक है। लाओ त्जु की कहावतों के इस संकलन में ऐसे अनमोल वचन भी हैं - ''हजार मील की यात्रा एक साधारण कदम से शुरू होती है।'' इस पुस्तक में एक कहावत है ''सभी व्यवहारों का उलट भी होता है।'' इसके अनुसार विपरीत स्थितियों, विरोधाभासों और गुत्थियों को समझने के लिए जो अधिकांश स्थितियों में अनिवार्यत: होते ही हैं, लाओ त्जू अपने अनुयायियों को ''चीजों को अंदर-बाहर, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे से देखने का आदेश देते हैं।''

इस तरीके का इस्तेमाल करते हुए नई दिल्ली के नीति निर्धारक भारत-चीन संबंधों के विकास का निर्धारण करने के लिए अतीत से शायद ज्यादा अच्छी अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे। तब वे उस दिशा के बारे में अच्छी तरह सोच सकेंगे जिस पर अपनी समस्यायें सुलझाने के लिए दोनों देश बढ़ रहे हैं।

यह एक चिंताजनक तथ्य है कि इस देश में चीन के बारे में जितनी भी जानकारी और विशेषज्ञता है उसे संकलित करने का न तो कोई गंभीर प्रयास किया गया और न ही अब तक कोई उपयोग किया गया। शायद ऐसा इतिहास के प्रति हमारे उपेक्षापूर्ण रूख के कारण है जबकि चीनी नियमित और सावधानीपूर्वक इतिहास का सूक्ष्म और विस्तृत रिकार्ड रखते और तथ्य इकट्‌ठा करते हैं। उदाहरण के लिए कू फू में रह रहा कन्फ्यूशियस के वंशजों का परिवार पीढ़ियों से अपने जीवन में घटने वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण रखता है। इसमें युद्ध से लेकर अकाल तक, उपभोक्ता सामग्रियों की कीमत से लेकर उस काल में हो रहे सामाजिक-सांस्कृतिक विकास तक की जानकारी शामिल है। यह ऐतिहासिक परंपरा चीनी अधिकारियों के कार्यकलापों में भी प्रकट होती है- चाहे वे घरेलू मामले हों या विदेश नीति।

यह राष्ट्रीय हित के मामलों में नई दिल्ली द्वारा संचालित एक ढीले, बिखरे हुए रवैये के ठीक विपरीत है। यहाँ यह याद करना उपयोगी होगा कि भारत सरकार को पहली बार चीन द्वारा भारतीय सीमा के पश्चिमी भाग अक्सई चिन में अतिक्रमण का पता एक चीनी पत्रिका में ही दिये गए रेखा-मानचित्र से मिला। यदि हम उदार रवैया अपनाकर यह कहें कि तब एक देश के रूप में हमारी उम्र कम थी तो इसके बाद की घटनाएँ तो और भी बुरी थीं। चीनियों को इसके प्रतिवाद स्वरूप सौंपा गया भारतीय ज्ञापन इतने कोमल स्वर में था कि इसके प्रति घृणा पैदा होना निश्चित ही था। और आगे का यह विचित्र बयान-कि चीनी

मजदूरों के लिए, जो सिनकियांग से तिब्बत को जोड़ने वाली सड़क भारतीय क्षेत्र में से होकर बना रहे थे, किसी वीसा का आवेदन नहीं किया गया – इसने हमें खुले उपहास का पात्र बना दिया। तब क्या यह कोई आश्चर्य की बात है कि ऐसी पृष्ठभूमि में भारत-चीन वार्ताओं में जो भी प्रगति का दावा किया जा रहा है, उसमें भारत की अपेक्षा चीनी हित की पूर्त्ति ही अधिक है?

उच्च अधिकारी स्तर की वार्ता का प्रथम दौर जो 1981 में प्रारंभ हुआ मुख्यत: सीमा प्रश्न पर उलझ गया। इसी से जुड़े होने के कारण आर्थिक और व्यावसायिक सहयोग, सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक और टेक्नोलॉजी जैसे क्षेत्रों में भी आगे चर्चा नहीं हो सकी। बाद की वार्ताओं में यह जुड़ाव ढीला किया गया और 1914 में दोनों देशों के बीच एक व्यापार समझौता हुआ जो उन सामानों का ब्यौरा देती थी जो आपस में आयात-निर्यात किए जा सकते थे। इसने दुतरफा वाणिज्य को फिर से बढ़ाने में बहुत मदद की जिस पर पहले उतना ध्यान नहीं दिया जाता था।

1988 में प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की यात्रा के दौरान संयुक्त कार्य समिति का गठन किया गया लेकिन यह केवल नामकरण में बदलाव था, दोनों तरफ के सभी कर्मचारी वही थे। फिर भी, सीमा मुद्दे पर अलग उपसमिति के गठन ने सहयोग के दूसरे क्षेत्रों से इसका संबंध अलग करने में योगदान दिया। यद्यपि शब्दावलियों पर ध्यान न देने के बावजूद ऐसी सीमाएँ हैं जिसके आगे, अपने बड़े हितों और क्षेत्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय हितों को भी ध्यान में रखते हुए, ये दोनों देश साथ-साथ नहीं बढ़ सकते।

यह सच है कि चीन एक नाभिकीय शक्ति होने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के वीटो-धारी स्थायी सदस्यों में से एक है। भारत के पास ये दोनों शक्तियाँ नहीं हैं लेकिन फिर भी ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम झुक जायें और किसी भी ऐसी बात पर सहमत हो जायें जहाँ हमें भी बराबर का लाभ न मिले।

फिर ऐसे कई संवेदनशील मुद्दे हैं जो आपसी संबंधों को किरकिरा करते हैं। इन मुद्दों पर वह तमाम राग अलापने के बावजूद कि वे एक दूसरे के हितों के विरूद्ध नहीं हैं, उपस्थित संदेहों को दूर करना संभव नहीं होता। जैसे कि पाकिस्तान के साथ चीन के सैनिक संबंध, जिसके अन्तर्गत उसके नाभिकीय शस्त्र कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के साथ-साथ पाकिस्तान को नाभिकीय हथियार धारण करने योग्य एम-11 मिसाइलें भी दी गयीं। या फिर, भारत में दलाई लामा की उपस्थिति जिससे चीन को बहुत कष्ट है।

कम महत्वपूर्ण मुद्दों जैसे – मानवाधिकार के मुद्दे पर चीन लचीला रूख अपनाने को इच्छुक दिख रहा है। अभी हाल ही में, चीन में जन्मे पर अब अमरीकी नागरिक, सामाजिक

कार्यकर्ता हैरी वू को चीन सरकार ने रिहा किया। लेकिन हरेक बार जब चीनी कोई सहूलियत देते हैं तो वे यह पूरी तरह निश्चित करते हैं कि दूसरी तरफ से भी बदले में कोई छूट दी जायेगी। यह 'दो और लो' के सिद्धांत की बात है।

चीन के साथ सीमा-समस्या को संतोषजनक रूप से सुलझाने के लिए भारत के लिए जरूरी है कि उसके पास एक संभावित समझौते की बुनियादी आधार रेखा की साफ समझ हो तथा वार्ता में टिकने की क्षमता भी हो। इसके बिना कोई ऐसा वास्तविक आधार नहीं है जिस पर दोनों पक्ष आगे बढ़ सकें। उच्च चीनी नेतृत्व से देंग सियायोपिंग के गुजरने के बाद आने वाले बदलाव को देखते हुए चीनी अभी इस मुद्दे को सुलझाने की स्थिति में नहीं हैं, और न ही हम हैं। अपनी तरफ से भारतीय नेतृत्व को अब भी यह तय करना है कि सीमा सम्बन्धी अपनी पूर्व घोषित स्थिति पर वह किस हद तक समझौता करने को तैयार है।

इन परिस्थितियों में यह समझा जा सकता है कि अभी बहुत कम प्रगति संभव है। लेकिन द्विपक्षीय संबंधों में दूरियों को प्रमुखता देना अभी खतरनाक भी होगा और अनुत्पादक भी। चूँकि कई अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर भारत और चीन के दृष्टिकोण समान या काफी नज़दीक हैं इसलिए अभी अंतर्राष्ट्रीय फोरमों में दोनों में सहयोग भी होता रहा है। लेकिन फिर भी, ये यह नहीं दर्शाते कि हमारे विचारों में कोई महत्वपूर्ण मतभेद नहीं है।

जब '80 के दशक की शुरूआत में प्रसिद्ध ''गाँधी'' फिल्म रिलीज हुई थी तो आमंत्रित दर्शकों और विश्वविद्यालय के छात्र समूहों के लिए, चीनी सब-टाइटिल के साथ, बीजिंग में भारतीय दूतावास ने इसका प्रदर्शन किया था। बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सेन्ट्रल कमेटी ने भी अपने नेतृत्व के सामने इसे प्रदर्शित करने के लिए यह फिल्म दूतावास से माँगी। उस वरिष्ठ चीनी पार्टी कार्यकर्ता, जो धन्यवाद के साथ फिल्म लौटाने आया था, से जब फिल्म के बारे में पूछा गया तो उसने कहा, अबूझ तरीके से, कि यह गाँधी जी के जीवन का बहुत अच्छा, प्रभावित कर देने वाला चित्रण है। लेकिन कोई वहाँ यह नहीं समझ पाया कि उनकी अहिंसा क्या और किस बारे में थी!

(तिथि अज्ञात, लगभग 1994-95)

क्या हममें राष्ट्रीय आत्मसम्मान की कमी है ?

रक्षत पुरी

क्या हममें राष्ट्रीय आत्मसम्मान की इतनी कमी है कि हम चीनी सरकार के एक छोटे से कर्मचारी का आदेश मानने को तैयार हो जायेंगे ? समाचार है कि बंबई में चीन के काउन्सल जनरल, कियांग पिक्सिंग ने एस.एन.डी.टी. महिला विश्वविद्यालय के उपकुलपति पर दबाब डाला कि वे वहाँ चल रही एक फोटो चित्र प्रदर्शनी बंद कर दें। 'निर्वासन में महिलाएं' नामक इस प्रदर्शनी में कुछ चित्र तिब्बती महिलाओं के भी थे। चीनी कर्मचारियों को यह नहीं भाया।

लेकिन उप कुलपति का क्या कहा जाय ? वे चीनी कर्मचारियों की माँग के आगे क्यों झुक गए ? क्या चीनी कर्मचारी ने केन्द्रीय सरकार पर विदेश मंत्रालय के सूत्रों द्वारा दबाव डाला था ? तब यह समाचार ज्यादा प्रमुखता से सामने आता और तब यह प्रश्न कि क्या हममें राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की कमी है और ज्यादा समीचीन हो जाता। या क्या उप कुलपति ही चीनी अधिकारियों से कुछ ज्यादा प्रभावित हो गए थे ? इस मामले को संबंधित अधिकारियों को देखना चाहिए।

इस प्रश्न का, कि क्या हममें राष्ट्रीय आत्मसम्मान का अभाव है, कुछ और कारणों से भी तुरंत उत्तर ढूँढना आवश्यक है। हमारे यहाँ एक प्रवृत्ति है कि हम जिस तरह से कोई बात महसूस करते हैं उसी तरह उसका उत्तर नहीं दे पाते। हमारी प्रतिक्रिया कमजोर और भयपूर्ण होती है जबकि उन्हें स्पष्ट और सटीक होना चाहिए। इसके उदाहरण खोजने में ज्यादा परेशानी नहीं होगी। जैसे - कश्मीर में पाकिस्तान समर्थित आतंकवाद के भारत-पाक युद्ध में बदलने की संभावनाओं के बारे में बेनजीर भुट्टो की टिप्पणी को ही लें। बात यह गौर करने की नहीं है कि यह टिप्पणी उन्हें बुद्धिमान से ज्यादा बातूनी बताती है। नई दिल्ली बिना किसी आक्रामक धमकी के या अपने को सावधान दिखाते हुए सही समय पर उसे सही जवाब दे सकती थी। सही समय आया भी, पिछले सप्ताह जब तुर्की के सुलेमान देमिरल यहाँ के दौरे पर थे।

यह स्वीकार करते हुए कि इन मामलों में भारत सरकार का साहस, स्वतंत्रता और निर्णय क्षमता सभी गंभीर संदेह के पात्र हैं, क्या सरकार में किसी को इसकी संभावना सूझी भी थी कि वे देमिरल से इस्लामाबाद को चुपचाप एक चेतावनी देने को आग्रह करें जिसमें उसे 'हॉट परसुइट' सम्मेलन की याद दिलायी जाय और इसे न मानने के बाद की बुरी संभावनाएं भी बतायी जायें।

'हॉट परसुइट' सम्मेलन का उपयोग अमरीकियों ने वियतनाम में काफी किया था। आज अंकारा सरकार इसका नियमित रूप से सहारा लेती है- इराक में कुर्द गाँवों पर बमबारी करने में जहाँ तुर्की के आतंकवादी कुर्द अलगाववादियों के ट्रेनिंग और हथियारबंदी के अड्डे हैं। देमिरल का संदेश इस्लामाबाद में गंभीरता से लिया जाता, क्योंकि अंकारा के धर्म निरपेक्ष और इस्लामाबाद के जोर शोर से इस्लामी होते हुए भी शीतयुद्ध के वर्षो से ही अंकारा और इस्लामाबाद में निकट के सैनिक और आर्थिक संबंध हैं।

यह प्रश्न कि हम अपने राष्ट्रीय आत्मसम्मान को कितना महत्वपूर्ण मानते हैं, आर्थिक सुधारों और उदारीकरण को भी प्रभावित करता है। आर्थिक तथा अन्य विशेषज्ञों की राय से देखें तो भारत सरकार बिल्कुल परम्परा का निर्वाह करते हुए विदेशियों और प्रवासी भारतीयों का पक्ष लेती है जबकि भारतीय नागरिकों पर भारत में ही ज्यादा मुश्किलें डाली जाती हैं। सही परंपरा में, क्योंकि जहाँ तक याद आता है, यहाँ सत्ता में बैठे नेता सिवाय नागरिकों को जरूरी सुविधाओं से भी वंचित करने और विदेशियों के तलवे चाटकर भ्रष्टाचार से अमीर बनने के सिवा और कुछ नहीं सोचते।

कुछ दिन पूर्व, इंडियन एक्सप्रेस में एक टिप्पणीकार आर.एन. भास्कर ने कुछ ऐसे निषेधों की सूची दी थी जो भारतीय नागरिकों पर लागू हैं पर जो विदेशियों और प्रवासी भारतीयों पर लागू नहीं होती है। अनेक उदाहरणों के साथ उन्होंने एक उदाहरण एक विदेशी विधि फर्म का दिया। यह फर्म भारत में अपना ऑफिस खोलने के लिए सरकार की स्वीकृति चाहती थी, क्योंकि बार काउंसिल ऑफ इंडिया ने उसे अपनी स्वीकृति नहीं दी थी। वकीलों को किसी दूसरे देश में वकालत करने से पहले संबंधित स्थानीय अधिकारियों द्वारा प्रमाण-पत्र लेना पड़ता है। लेकिन उस फर्म ने बार काउंसिल ऑफ इंडिया को धोखा देने की कोशिश की। उसने रिजर्व बैंक के पास एक 'प्रोजेक्ट स्टेटस' ऑफिस खोलने की अनुमति माँगी। भास्कर के अनुसार स्वयं विधि मंत्री के एक नज़दीकी रिश्तेदार उनका काम कर रहे थे।

दूसरा उदाहरण - भारतीय फर्मो पर कंपनी एक्ट की पार्टनरशिप वाली यह शर्त कि उसमें बीस से ज्यादा सदस्य नहीं हो सकते, कठोरता से लागू की जाती है। पर विदेशी विधि या चार्टड एकाउंटेसी की फर्मे इस एक्ट की जरूरत से मुक्त लगती हैं। फिर जबकि भारतीयों को, यदि उनके शेयर और सिक्युरिटी में निवेश एक साल से कम हों, एक कम अवधि पूँजी लाभ का टैक्स चालीस प्रतिशत देना पड़ता है वहीं विदेशियों और अनिवासी भारतीयों को केवल 20 या 30 प्रतिशत।

इन सबको देखते हुए, और जिस प्रकार हमारे यहाँ के अधिकारी विदेशियों पर कृपालु हो

जाते हैं – मानो उदारीकरण और विदेशी निवेशकों को किसी भी कीमत पर बुलाना एक ही बात हो – क्या यह आश्चर्यजनक है कि बीजिंग सरकार के एक छोटे से कर्मचारी ने अपनी बात मनवा ली और यहाँ एक चित्र प्रदर्शनी बंद करवाने का आदेश दे दिया? क्या यह एक क्षण के लिए भी सोचा जा सकता है कि कोई भारतीय राजनयिक, उदाहरण के लिए शंघाई में प्रभावी रूप से इस प्रकार का दबाव डाल पायेगा, जैसा चीनी कर्मचारी ने बंबई में उस प्रदर्शनी को बंद करने के लिए डलवाया? राष्ट्रीय पत्रकार संघ ने निश्चय ही विरोध करके प्रशंसनीय कार्य किया है। लेकिन यह आशा की जाती है कि यह विरोध चीनी कर्मचारी के चाहने पर प्रदर्शनी बंद करने के सिर्फ एक मुद्दे पर केन्द्रित न रहकर राष्ट्रीय आत्मसम्मान बढ़ाने के व्यापक मुद्दे पर आधारित है और यह भविष्य में भी जारी रहेगा।

[1995]

कुट्टी

फिर वही गलती

अजित भट्टाचार्जी

नई दिल्ली बीजिंग से संबंध सुधारने की दिशा में प्रयत्नशील है और चीन के एक विश्वव्यापी आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने की संभावनाओं को देखते हुए यह ठीक भी लगता है। लेकिन क्या हमें तस्वीर का सिर्फ यही रूख देखना चाहिए? बीजिंग से निकटता बढ़ाने के हिमायती इस बात पर जोर देते हैं कि चीन के साथ संबंध भारत को लाभ पहुँचायेंगे जबकि दलाई लामा तो एक भूले-बिसरे तथ्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें दुनिया की कोई सरकार गंभीरता से रूचि नहीं लेती। इसलिए महज एक भावनात्मक संबंध के लिए बीजिंग को नाराज करना अच्छा नहीं होगा। भविष्य एशिया के दो सर्वाधिक आबादी वाले देशों के सहयोग का ही है।

व्यवहारिक रूप से चीन के लिए यह ज्यादा लाभदायक है। फिर आखिर यह प्रचलित भूमंडलीकरण के सिद्धांत से भी मेल खाता है कि विदेश नीतियाँ आर्थिक लाभ से प्रेरित होनी चाहिए। लेकिन यदि ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों पर भी विचार किया जाय तो यह चुनाव कठिन हो जायेगा। भारत के लिए यह सिर्फ भावनाओं की बात ही नहीं है, बल्कि एक ऐसा विषय है जो आर्थिक संबंधों से ज्यादा महत्वपूर्ण और देश-हित को ज्यादा प्रभावित करने वाला है।

पुराने अनुभव हमें बताते हैं कि चीन जैसे शक्तिशाली और निष्ठुर पड़ोसी के साथ संबंधों के मामले में नीति निर्धारण के लिए केवल आर्थिक कारणों पर गौर करना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि यहाँ राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। भारत को यह खतरा दलाई लामा के भारत आने से पूर्व से ही है। तत्कालीन उप-प्रधानमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा 1950 में – दलाई लामा के भारत आने से नौ वर्ष पहले – नेहरू जी को लिखा गया विस्तृत पत्र इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। इस पत्र में चीन के तिब्बत पर अधिकार कर लेने के बाद, भारत की उत्तरी सीमा को चीनियों से गंभीर खतरे की चर्चा की गई है, साथ ही वे इस मामले में भारत के विदेश मंत्रालय द्वारा उठाये गए कमजोर कदमों की भी आलोचना करते हैं। उन्होंने विशेष रूप से ''चीनी खतरे की तुरंत सैनिक समीक्षा'', सीमा पर टुकड़ियों की तैनाती और चीनी खतरे के मद्देनजर रक्षा-आवश्यकताओं पर दूरगामी पुनर्विचार की अनुशंसा की थी।

लेकिन नेहरु जी अपने इसी दृष्टिकोण पर चलते रहे कि दोनों एशियाई महाशक्तियाँ विश्व को बदलने में सहयोगी होंगी। एक तरह से तिब्बत की दुर्दशा में उनका भी योगदान रहा,

क्योंकि वे भारत-चीन वार्ताओं में इसके स्वशासन के बारे में दबाव नहीं डाल सके। भारत-चीन संबंधों का 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' ही मुख्य आधार रहा, जब तक इतिहास ने सरदार पटेल को सही नहीं सिद्ध कर दिया। 1962 के युद्ध में भारत की पराजय, जिसे रोकने में नेहरू असफल रहे, के बाद ही उन्होंने महसूस किया कि वे एक काल्पनिक दुनिया में जी रहे हैं। क्या हमें आज भी वही गलती दुहरानी चाहिए?

[1995]

भारत की चीन नीति

शंकर शरण

हाल में भारतीय जनता ने जाना कि भारत सरकार ने दो जाने माने फिल्म निर्देशकों मार्टिन सॉरसेस और ज्याँ जाक् अनॉड को भारत में तिब्बत और दलाई लामा के जीवन पर बन रही फिल्मों की शूटिंग करने की इजाजत नहीं दी। दुनिया भर के लोग आश्चर्य चकित हैं कि जब बी.बी.सी. समेत कई एजेंसियाँ दलाई लामा पर वृतचित्र बना चुकी हैं तो भारत सरकार को एक वृतचित्र से भला क्या परेशानी हो सकती है? यह समझना कठिन है कि चीनी शासकों के प्रति ऐसी आदर भावना भारतीयों के किस उद्देश्य की पूर्ति करती है। चीनी शासक तो ऐसी बातों को इलाके के चौधरी को दी गई भेंट के रूप में लेते हैं।

अपनी जगह पर तो बीजिंग के शासक ठीक ही हैं, मतलब कूटनीतिक रूप से। वास्तविक राजनीति में सभी देश दूसरे देश की कमजोरियों का लाभ उठाते हैं। तो चीनी ऐसा क्यों न करें! आखिरकार जितने बीते वर्ष हम याद कर पाते हैं, उसमें कभी भी भारत चीनियों को यह कहने का साहस नहीं कर पाया कि वे भारतीय क्षेत्र में कब्जा किए हुए हैं - 36000 वर्गमील अरूणाचल क्षेत्र में और 14500 वर्गमील अक्सईचिन में।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आम भारतीय भी, खासकर यहाँ की नई पीढ़ी, यह नहीं जानती कि यह क्षेत्र 1962 के अपमानजनक युद्ध में चीन द्वारा हथिया लिये गये थे। हमारे कूटनीतिक इतिहास का यह एक काला अध्याय ही है कि जब हमारे प्रधानमंत्री ''पंचशील'' और ''हिन्दी चीनी भाई-भाई'' की रट लगा रहे थे, तब चीन पहले तिब्बत, फिर भारतीय क्षेत्रों को हड़पने की तैयारी में जुटा था। लेकिन यह तो आने वाली भारतीय सरकारों की शर्मनाक चीन नीतियों की बस एक शुरूआत भर थी। वास्तव में हमने अभी भी सही सबक नहीं सीखा है।

आज बहुत कम लोग उस गंभीर प्रस्ताव के बारे में जानते हैं जिसे भारतीय संसद के दोनों सदनों ने एक शपथ के रूप में सर्वसम्मति से पारित किया था कि भारत तब तक चुप नहीं बैठेगा जब तक 1962 के युद्ध में खोयी हुई भूमि का एक-एक इंच वापस हासिल कर अपने अपमान को धो नहीं लेता। आज इस समय उस शपथ की क्या स्थिति है? न तो इसे वापस लिया गया है और न ही फिर कभी इसे याद किया जाता है। एक आत्मसम्मानी देश का तो यह हाल नहीं हो सकता। हमारी सरकार को चीनियों से एक इंच भी जमीन हासिल करने में सफलता तो नहीं ही मिली, धीरे-धीरे उन्होंने इस मुद्दे को उठाना भी छोड़ दिया। यह सच है कि भारत न तो युद्ध करने की स्थिति में हैं और न ही इसे युद्ध करना चाहिए।

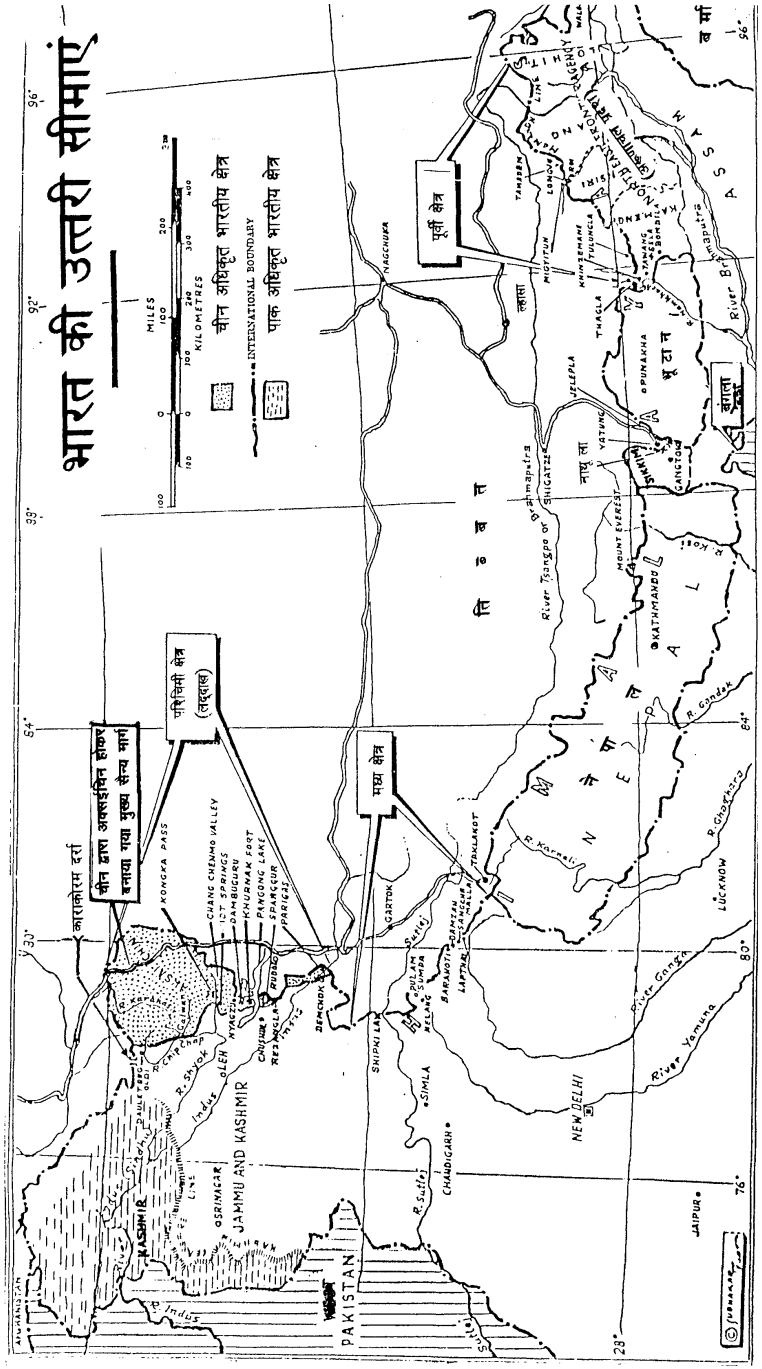

लेकिन देश-हित और आत्म सम्मान के मुद्दे उठाने का मतलब सीधा युद्ध ही तो नहीं होता।

तथा कथित 'सीमा संबंधी मुद्दे' (भारतीय क्षेत्र के चीन द्वारा साफ हथियाये होने के बदले एक छद्म शब्दावली) सुलझाने की आड़ में प्रधानमंत्री स्तर तक से ये कोशिशें हो रही हैं कि देश चीन-अधिकृत भारतीय क्षेत्र को भूल जाय। तथाकथित ''वास्तविक नियंत्रण रेखा पर शान्ति बनाये रखने का समझौता'' जिस पर श्री पी.वी. नरसिंह राव के चीन दौरे के दौरान हस्ताक्षर हुए थे, इसी का एक उदाहरण है। एक तरह से यह और कुछ नहीं बल्कि कुछ महत्वपूर्ण भारतीय हितों की बलि थी। गौरतलब है कि ये हस्ताक्षर ऐसे समय में किये गये जब दोनों देशों के बीच युद्ध की कोई संभावना नहीं थी। पहले से ही शान्त सीमा को ''शान्त बनाने'' का क्या अभिप्राय हो सकता है? सच यह है कि यह समझौता बस उस यथास्थिति को स्थाई मानने के लिए था जिसे चीन जायज ठहरा रहा है। चूँकि भारतीय क्षेत्र पर चीन का कब्जा अवैध है, भारत के लिए इस समझौते का सिर्फ यही अर्थ हो सकता है कि भारत अब उस चीनी कब्जे के बारे में फिर कभी नहीं बोलेगा।

भारत और चीन के बीच चल रही सीमा संबंधी वार्तायें कुछ खतरनाक प्रवृत्तियों का संकेत देती हैं। हमारे विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता की भाषा से यह साफ लगता है कि वे भारत-तिब्बत (चीन) सीमा के संबंध में सदा 'वास्तविक नियंत्रण रेखा' के संदर्भ में ही बात करते हैं। इस मामले में एक बहुत ही उचित प्रश्न यह है कि तिब्बत (चीन) और भारत के बीच की सीमा मैकमहोन रेखा को आखिर कब से भारत ने अंतर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकृत सीमा नहीं मानना शुरू कर दिया है?

यदि भारत सरकार चीनी दबाव के आगे झुक कर मैकमहोन रेखा को भारत और तिब्बत (चीन) के बीच सीमा नहीं मानने के लिए तैयार हो गई तो यह एक और बड़ी गलती होगी। पहली ऐसी गलती थी ''पंचशील'' के अंतर्गत तिब्बत चीन को दे देना, जिसके लिए राष्ट्र को भारी कीमत चुकानी पड़ी थी और अब भी चुकानी पड़ रही है। यह अजीब-सा लगता है कि हमारे विदेश मंत्रालय के अधिकारियों की लाल चीन के कूटनीतिक इतिहास में कोई पैठ नहीं हैं।

चीन का राजनीतिक नेतृत्व अपने वादे न निभाने के लिए प्रसिद्ध है। उनके मन में न तो समझौतों के लिए कोई आदर है और न ही सिद्धान्तों के प्रति कोई लगाव। अंतर्राष्ट्रीय रूप से मान्य परम्परायें भी उनके लिए तभी तक मान्य होती हैं जबतक कि उनका कोई स्वार्थ सधता हो। पश्चिमी देशों के कुशल कूटनीतिकों के लिए भी चीन के साथ विचार करना कठिन होता है। भारत में आम जनता विदेश नीति के प्रति लगभग अनभिज्ञ और निरपेक्ष है,

दूसरी ओर राजनीतिक नेतृत्व में भी दूर-दृष्टि का अभाव है। इन स्थितियों के मद्देनज़र हमारे विदेश मंत्रालय के अधिकारी चीनी अधिकारियों से बात करते हुए भारत के हितों की लगातार अनदेखी किए जा रहे हैं। सच यह है कि हम लोग कूटनीतिक विनाश की ओर बढ़ रहे हैं।

भारत-चीन के बीच का कूटनीतिक इतिहास केवल दो स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। पहला - भारत को हर क्षेत्र में चीन की बराबरी करनी होगी। उसे चीन के हर कदम का बराबरी से, बिना अपवाद के, भरपूर जवाब देना होगा। झुके घुटनों वाला देश शान्तिपूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। दूसरा - हरेक उचित मौके पर भारत को तिब्बत का प्रश्न उठाना चाहिए जो युगों से हमसे संबंधित रहा है। चीनियों ने भी हमेशा यह माना और समझा था और 1954 से पहले वे भारतीय नेतृत्व से तिब्बत के बारे में बात करने के लिए बाध्य थे। हमारी चिंता का एक सशक्त कारण यह है कि हमारी सीमाएँ तिब्बत के साथ हैं न कि हान चीन के साथ। इसलिए, जब तक तिब्बत भी सीमावार्ता में शामिल नहीं होगा, कोई भी निर्णायक समाधान इस विषय पर नहीं हो सकता है। चीन से स्थाई दोस्ती और शान्ति चाहने की यह पहली जरूरत है। भारत, चीन से तिब्बत द्वारा ही संबंधित है। इसलिए, चीन के साथ शान्ति और मित्रता के लिए तिब्बत के प्रश्न का हल तिब्बतियों के संतोष के अनुसार सुलझाना होगा। जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गाँधी तक इस सच्चाई को महसूस करते थे। भारत के विदेश मंत्रालय को फिर से यह सच्चाई समझनी होगी क्योंकि वे उस बात को भूलते लग रहे हैं जो वस्तुत: भूलने लायक नहीं है।

[1996]

भारत को पहल करनी चाहिए

निखिल चक्रवर्ती

दलाईलामा की हाल की अमेरिका यात्रा पर उम्मीद के ही मुताबिक बीजिंग ने तीखी प्रतिक्रिया जाहिर की। चीनी नौकरशाही की परेशानी और बढ़ गयी जब इसी समय तिब्बती महिलाओं ने मानवाधिकार के सवाल पर संयुक्त राष्ट्र महिला सम्मेलन के साथ हुए स्वयंसेवी संस्थाओं के फोरम में प्रदर्शन किया।

चीन ने अक्सर दुहराया जाने वाला आरोप लगाया कि ऐसे समय में जबकि चीन के संबंध अमेरिका से बहुत अच्छे नहीं हैं, दलाईलामा राष्ट्रपति क्लिंटन के पास पहुँचकर राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न हैं। साथ ही, **न्यूयार्क टाइम्स** में प्रकाशित रिपोर्ट का एक महत्वपूर्ण अंश यह कहता है कि दलाईलामा ने क्लिंटन प्रशासन से अनुरोध किया है कि पह बीजिंग पर तिब्बत को ''वास्तविक स्वशासन'' देने पर बातचीत करने के लिए दबाव डाले। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वे तिब्बत को संपूर्ण स्वतंत्रता देने की अपनी माँग पर अड़े हुए नहीं हैं।

दलाईलामा की सार्वजनिक माँग में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है, हालाँकि यह कुछ समय से माना जा रहा था कि उन्होंने मित्रों और विभिन्न देशों के संबंधित लोगों के समक्ष ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। सिर्फ यही नहीं, यह तो सबों को मालूम ही है कि उनके प्रतिनिधि चीनी सरकार के प्रतिनिधियों से समय-समय पर ''वास्तविक स्वशासन'' के लिए दबाव डालने हेतु मिल रहे थे। उनके भाई इस बातचीत में गंभीरता से शामिल थे। कुछ समय पहले तो उन्होंने बीजिंग की यात्रा भी की थी और वहाँ चीन के उच्चाधिकारियों से मिले। दलाईलामा के सूत्रों को यह आशा थी कि चीनी अधिकारी तिब्बत के लिए स्वशासन के स्वरूप के बारे में कुछ संकेत देंगे। लेकिन इन मुलाकातों में चीनियों ने स्वयं को चीन के विरूद्ध राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न होने के आरोपों को दुहराने तक सीमित कर लिया, जिससे दलाई लामा के प्रतिनिधियों ने साफ इन्कार किया।

परंतु हाल की घोषणा का महत्व यह है कि पहली बार सार्वजनिक रूप से दलाईलामा ने विशेषत: 'वास्तविक स्वशासन' की माँग की है, जो स्वतंत्रता से बहुत भिन्न है। उनकी परिपक्व राजनीतिक समझ का यह प्रमाण है कि दलाईलामा यह नरम संकेत एक जल्द समझौते की खातिर दे रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यह स्थिति के वास्तविक आकलन से उत्पन्न एक महत्वपूर्ण प्रगति है।

इस विषय पर चीन का आधिकारिक रवैया क्या है? हालाँकि दलाईलामा की अमेरिका यात्रा ने बीजिंग द्वारा दलाईलामा पर शाब्दिक हमलों को ज़रूर आमंत्रित किया है, लेकिन उनकी स्वशासन की माँग को अस्वीकृत नहीं किया गया है। यह संकेत हो सकता है कि चीनी सरकार अभी तक बिना कोई मन बनाए इस बारे में विचार कर रही हो। इसकी संभावना भी हो सकती है कि इस पर सकरात्मक प्रतिक्रिया मिले।

इस संदर्भ में यह याद करना प्रासंगिक होगा कि जब तीन वर्ष पहले राष्ट्रपति वेंकटरामन ने मई 1992 में चीन की एक राजकीय यात्रा की थी, तब उन्होंने चीनी प्रधानमंत्री ली पेंग से काफी लम्बी बातचीत की। वहाँ क्या बातें हुई यह आधिकारिक रूप से प्रकाशित नहीं हुआ, लेकिन इसका संक्षिप्त विवरण वेंकटरामन की पुस्तक 'माई प्रेसीडेंशयल इयर्स' में दिया गया है जो वर्तमान मुद्दे से संबंधित है।

''तिब्बत के बारे में चीनी प्रधानमंत्री ने कहा, 'भारत सरकार का रूख चीन के लिए काफी सहयोगपूर्ण है।' हालाँकि उन्होंने दलाईलामा के राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न होने पर खेद व्यक्त किया। ली पेंग ने कहा, 'पश्चिमी देशों ने मानवाधिकारों, धर्म और तिब्बत की स्वतंत्रता के मुद्दों का उपयोग चीन पर दबाव डालने में किया है। दलाईलामा द्वारा संचालित गतिविधियाँ धार्मिक कार्यकलापों के क्षेत्र से आगे बढ़ गई हैं। फिर भी हम एक धार्मिक नेता के रूप में उनका सम्मान करते हैं और तिब्बत की तथाकथित स्वतंत्रता को छोड़कर और किसी भी मुद्दे पर उनसे बातचीत के लिए तैयार हैं।''

यहाँ दोनों पक्षों के विचारों में बहुत निकटता है, और जैसा कि वेंकटरामन ने हाल में कहा, यह तिब्बत समस्या के बातचीत द्वारा हल की संभावनाएं दर्शाता है। सभी तरह से तिब्बत पर सकारात्मक दिशा में कदम उठाने का यह एक सही समय है। पिछले हफ्ते दिये एक बयान में उन्होंने कहा, ''निश्चय ही दोनों में से किसी पक्ष से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे एक-दूसरे तक सीधे पहुँचें। यह अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की जवाबदेही है कि वे संवाद के लिए रास्ता निकालें।''

अमेरिका ऐसी शुरूआत करता है या नहीं यह उसका अपना मामला है। भारतीय प्रधानमंत्री के पास यह अद्वितीय अवसर है कि वे इसकी पहल करें। भारत-चीन संयुक्त कार्य समिति की हाल की मीटिंग अच्छी रही है। और इस नये सिलसिले में चीनी आधिकारिक श्रेणी के एक सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति क्वो शी की नई दिल्ली यात्रा अगले दिसम्बर में होने वाली है।

क्वो-शी का दौरा निश्चय ही केवल भारत चीन सीमा विवाद पर बातचीत तक ही सीमित नहीं होगा। सम्पूर्ण वार्ता में इसकी बहुत संभावना है कि तिब्बत का मामला भी उठे। यह शायद बेहतर मौका होगा जब भारतीय प्रधानमंत्री चीनी पक्ष का ध्यान इस ओर आकृष्ट

करें कि उनके और दलाई लामा के विचार काफी करीब आ गए हैं। इससे भारतीय प्रधानमंत्री के लिए विश्व के इस हिस्से में शान्ति लाने के प्रयास के लिए भी रास्ता खुलेगा।

अभी तक तिब्बत के मसले पर कुछ भी चीनी पक्ष के सामने रखने में नई दिल्ली की ओर से अजीब चुप्पी बरती जाती थी। कारण यह नहीं था कि दलाई लामा और उनके देश के हजारों लोगों, जो भारत में लगभग साढ़े तीन दशकों से निर्वासन में रह रहे हैं, के प्रति सहानुभूति की कोई कमी है। जैसा कि दलाई लामा का कार्यालय मानता है कि इस देश की सरकार और जनता उनका बहुत सम्मान करती है और उनके सत्कार में कभी कमी नहीं हुई। लेकिन साथ ही साथ अब तक उनके और भारतीय सरकार के बीच एक समझ बनी रही है कि अपने देश के लिए समर्पित एक आदरणीय नेता के रूप में उन्हें पूरा सम्मान दिया जाता रहेगा, हालाँकि यहाँ वे किसी राजनीतिक गतिविधि का संचालन नहीं करेंगे। उनके और भारत सरकार के बीच यह आपसी समझ तभी बन गयी थी जब वे ल्हासा से भागकर भारत आए थे।

इस पृष्ठभूमि में, इस पर गौर किया जाना चाहिए कि धर्मशाला और बीजिंग के बीच अच्छे संबंधों की माँग करना, 1959 से बनी समझ का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं है। जब दलाईलामा और चीनी प्रधानमंत्री की आधिकारिक सार्वजनिक घोषणाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि दोनों के दृष्टिकोण काफी निकट आ गए हैं, तब यह चीन के सभी हित-चिन्तक मित्रों की भी जवाबदेही है कि दोनों पक्षों के सम्मान को बरकरार रखते हुए एक शान्तिपूर्ण समझौते का प्रयास करें। इस पर किसी को भी ऐतराज नहीं होना चाहिए कि ऐसे समय में जब चीन अपने पुराने कवच से बाहर होकर खुली दुनिया में आने को उत्सुक है, तिब्बत प्रश्न का हल बीजिंग के लिए आगे चलकर एक उपलब्धि ही होगी।

यह भी गौर करना आवश्यक है कि तिब्बत के संबंध में भारत की स्थिति हमेशा विशेष रही है। यह स्थिति हालाँकि अपरिभाषित रही है, लेकिन इसका हमेशा ही सम्मान किया गया है। पचास के दशक में हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा जब बुलंदी पर था, जवाहरलाल नेहरू ने चीनी सरकार की सहमति से, यदि उसके प्रेरित करने पर न कहें तो, दलाईलामा और पंचेनलामा के बीच सामान्य सम्बन्ध बहाल करवाने में एक भूमिका निभाई थी। हालाँकि ऐसी भूमिका जारी नहीं रह सकी, ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस समय चीनी सरकार ने नेहरू जी की मध्यस्थता पर अपनी कोई आपत्ति व्यक्त नहीं की, बल्कि वास्तव में इसकी सराहना ही की। चालीस वर्ष बाद, अब यह एक अन्य भारतीय प्रधानमंत्री के लिए अवसर है कि वे बीजिंग और दलाईलामा के बीच संधि में ऐतिहासिक भूमिका निभाएं और तिब्बत को कटु विवाद से बाहर निकालें। यह हमारे प्रधानमंत्री के लिए अवसर है कि वे सकारात्मक कूटनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने का साहस दिखाएं।

[1995]

भारत को एक सुरक्षा सिद्धांत की आवश्यकता है

राहुल बेदी

वर्षों तक छाया-युद्ध करने के बाद आखिरकार भारत ने व्यापक परमाणु अप्रसार संधि (सी.टी.बी.टी.) पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया है। अब नई दिल्ली के सामने यह वास्तविकता खड़ी है कि वह और परमाणु परीक्षण करने की अपनी क्षमता का उपयोग करे या नहीं। यह देखना भी अभी बाकी ही है कि केवल यह घोषित कर, कि हमने परमाणु विकल्प खुला रखा है, भारत सरकार संतुष्ट बनी रहेगी या इस क्षेत्र में तनावपूर्ण सुरक्षा स्थितियों से दो-चार होकर वह उपस्थित वास्तविकता का सामना करने के लिए कोई सिद्धान्त भी तय करेगी।

भारत ने गड़बड़ियों और भेदभाव वाले सी.टी.बी.टी. से छुटकारा पाने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राथमिकता दी। सी.टी.बी.टी. की खोखली नैतिक भंगिमाओं को अस्वीकार करने के बाद इतना ही मजबूत कदम भारतीय नाभिकीय ठिकानों के अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षकों द्वारा निरीक्षण या निर्देशन से मना करके उठाया गया, यह कहते हुए कि वह सी.टी.बी.टी. का सदस्य नहीं है। भारत ने यह भी चेतावनी दी कि वह नाभिकीय विस्फोटों से संबंधित 37 देशों की क्षेत्रीय भूकंपन प्रक्रिया की माप करने वाली अंतर्राष्ट्रीय देख-रेख प्रणाली से भी बाहर निकल जायेगा। लेकिन अब जबकि सी.टी.बी.टी. पर शोरगुल समाप्त हो चुका है और इसका भविष्य अनिश्चित दिख रहा है, यह देखना बाकी है कि जिनेवा कांफ्रेंस में अपनी प्रभावी भूमिका निभाने के बाद अब नई दिल्ली क्या करेगी। दिल्ली के नीति निर्धारकों पर नाभिकीय शक्ति से लैस होने का दबाव बढ़ेगा ही, क्योंकि यह नाभिकीय चीन और नाभिकीय-समर्थ पाकिस्तान के दो पाटों के बीच दबा हुआ है।

इस बारे में शायद ही किसी के मन में संदेह हो कि अलग-अलग कारणों के बावजूद चीन और पाकिस्तान इस क्षेत्र में किसे अपना शत्रु मानते हैं। सालों से तिब्बत में चीन के नाभिकीय मिसाइल भंडार हैं जो भारत के विरूद्ध तैनात हैं, जबकि बीजिंग ने पाकिस्तान को गैस सेन्ट्रीफ्यूज के लिए 5000 चुम्बकीय छल्ले दिये हैं जिनका उपयोग हथियार बनाने योग्य यूरेनियम के संवर्द्धन में होता है। इसके साथ ही नाभिकीय-समर्थ एम-11 मिसाइलें भी पाकिस्तान को चीन ने दी हैं जो अमेरिकी और भारतीय खुफिया रिपोर्टों के अनुसार सचल प्रक्षेपकों पर तैनात भी कर दी गई हैं। दिल्ली में बैठनेवाली सभी सरकारों को खुफिया विभाग द्वारा इनके बारे में विस्तृत सूचना मिलती रही है, जबकि सेना ने भी इस गंभीर खतरे का सामना करने की तुरंत आवश्यकता पर जोर देना जारी रखा है। हालाँकि उन्हें प्राय: नाभिकीय मामलों के प्रति (राजनीतिक नेताओं में) भारी अज्ञान और बचकानी

समझ के साथ, राजनीतिक अनिर्णय बल्कि अधिकांशत: उदासीनता का ही सामना करना पड़ा है।

सुरक्षा-खतरों को नजरअंदाज करते हुए, सरकार द्वारा सेना को बार-बार कहा गया कि नयी दिल्ली नाभिकीय लक्ष्मण रेखा पार नहीं करेगी, न ही वह दक्षिण एशिया में अत्यधिक बदली हुई स्थिति का सामना करने के लिए कोई सिद्धांत बनायेगी। यद्यपि इसने 'शत्रुतापूर्ण पड़ोसियों' से खतरे को स्वीकार किया और वही तोतारटंत दुहराया कि इस खतरे का 'उचित सामना किया जायेगा।' बस, सुरक्षा नीति यहीं समाप्त हो गई। लगता है, उस समय से रूख बहुत थोड़ा ही बदला है, जब 1962 में रक्षा मंत्रालय के एक झल्लाये हुए संयुक्त सचिव ने सेना प्रमुख को यह संदेश भेजा था कि वह चीनियों को भारतीय क्षेत्र से निकाल बाहर करें।

भारत का पाकिस्तान के साथ तीन बार और चीन के साथ एक बार अनसुलझे सीमा विवाद को लेकर युद्ध हो चुका है, लेकिन वह तब जब वे दोनों कोई नाभिकीय शक्ति नहीं थे। चीन ने अपना पहला परमाणु परीक्षण 1964 में सिनकियांग में किया; एक दशक बाद भारत ने पोखरण में परीक्षण किया; जबकि पाकिस्तान ने, जनरल असलम बेग के अनुसार, 1987 में नाभिकीय हथियार विकसित कर लिया था। जनरल बेग के अनुसार, पाकिस्तान के पास अपनी जरूरतों को कई सालों तक पूरा करने के लिए काफी मात्रा में संवर्द्धित यूरेनियम है। उन्होंने हाल ही में कहा कि यदि भारत ने दूसरा परमाणु परीक्षण किया तो पाकिस्तान 24 घंटे के अंदर प्रतिक्रिया में अपना विस्फोट कर दिखायेगा।

'पृथ्वी' पर निर्णय लेने में हिचकिचाहट

काफी प्रसारित होने वाले एक उर्दू अखबार ''नवा-ए-वक्त'' में एक साक्षात्कार में जनरल बेग ने कहा कि कोई भी पाकिस्तानी सरकार देश के नाभिकीय कार्यक्रम को नहीं रोक सकती और उन आरोपों को गलत बताया कि पूर्व राष्ट्रपति गुलाम इसहाक खान, प्रधानमंत्री श्रीमती बेनजीर भुट्टो और वे खुद वाशिंगटन के दबाव के सामने 80 के दशक के आखिरी वर्षों में इसे बंद करने में शामिल थे। इसके बाद जल्दी ही, आई.एस.आई. के पूर्व निदेशक जनरल हमीदगुल ने न्यूयार्क में एक मीटिंग में बताया कि यदि ईराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन के पास पाकिस्तान जैसा 'फुटबाल' होता तो उनको खाड़ी युद्ध में ऐसा सार्वजनिक अपमान नहीं झेलना पड़ता। यदि और कोई पुष्टि आवश्यक हो तो 1994 की शुरूआत में पूर्व प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने स्वीकार किया कि पाकिस्तान के पास 'किसी भी स्थिति से निपटने के लिए' परमाणु बम है।

यद्यपि भारत-चीन संबंधों में 1980 के दशक के आखिरी वर्षों से काफी सुधार हुआ है और वास्तविक नियंत्रण रेखा से सेनाएं पीछे हटी है। फिर भी चीनियों के भविष्य के इरादे पर

संदेह बरकरार है। इन इरादों को जानबूझ कर नजर अंदाज किया जा रहा है लेकिन ये सन् 2000 के बाद भारत के लिए गंभीर खतरे में परिणत हो सकते हैं। आज चाहे कितने भी अच्छे संबंध हों, इरादे तो रातभर में बदल सकते हैं, लेकिन रक्षा तैयारियों में दशकों की मेहनत और योजना लगती है।

इसके अलावा भारत-चीन सीमा विवाद, पचास के दशक में तिब्बत का अधिग्रहण और चीनी सेना का खासकर उसकी जलसेना का तीव्र आधुनिकीकरण, जैसे बड़े मुद्दे भारतीय अधिकारियों द्वारा किसी भी कूटनीतिक आदान-प्रदान में नहीं उठाये जाते। दोनों पड़ोसियों के बीच ''विश्वास बनाने संबंधी प्रयासों'' के अन्तर्गत सेना और राजनीतिक अधिकारियों द्वारा भी इन मुद्दों को अछूता छोड़ दिया जाता है। एक और बात जो कभी नहीं उठायी जाती, वह है पाकिस्तान के साथ चीन के बढ़ते सैनिक संबंध और उसे सैन्य सामग्री तथा मिसाइलों की नियमित आपूर्ति।

ये सभी तथ्य, इसी बहस को वापस लाते हैं कि क्या भारत, अपनी विकसित नाभिकीय व्यवस्थाओं और अस्त्रों के उपयोग योग्य संलयन सामग्री तैयार करने में विशेषज्ञता के बावजूद, युद्ध के लिए तैयार दिखने वाले पड़ोसियों के इरादों को हतोत्साहित कर सकने में राजनीतिक रूप से समर्थ है? भारत शायद विश्व के उन गिने-चुने लोकतंत्रों में से है जहाँ कोई सुरक्षा सिद्धांत विकसित करने में सेना का बहुत कम हाथ है। उच्च सैनिक अधिकारी यहाँ ऐसी स्थिति में काम करते हैं जहाँ सेना और सरकार में हमेशा मतभेद बने रहते हैं और एक ऐसी नौकरशाही से दो-चार होना पड़ता है जो खासी अज्ञानी और विरोधी या विमुख सी है लेकिन जो असीमित शक्ति संपन्न है। यह सैनिक मामलों में अनुभवहीन है लेकिन सभी महत्वपूर्ण निर्णयों में आखिरी फैसला वही लेती है।

अमेरिका के दबाव में 'पृथ्वी' प्रक्षेपास्त्र के उत्पादन और तैनाती शुरू करने में भारत की हिचकिचाहट इसके पास किसी सुरक्षा सिद्धान्त के न होने का एक क्लासिक उदाहरण है। इसके अलावा हाल ही में पोखरण में परमाणु परीक्षण स्थल तैयार कर, इसके लिए काफी मँहगा मानीटरिंग यंत्र खरीद और लगा चुकने के बाद पूर्व प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने इस परीक्षण को छोड़ देने का फैसला किया। क्योंकि इसके बारे में अमरीकी अखबारों में छप गया था। वे मानीटरिंग यंत्र पोखरण में ही रखे हुए हैं। ऐसा लगता है कि किसी दिन सरकार अपनी जादुई छड़ी घुमायेगी, एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् बनायेगी और सभी सुरक्षा संबंधी कठिनाइयाँ पलक झपकते दूर हो जायेंगी। लेकिन सिर्फ बड़े नामों और छोटे कामों वाली कोई परिषद् बना देना ही कोई हल नहीं होगा। भारत को एक संपूर्ण सुरक्षा नीति की आवश्यकता है जो अच्छी तरह देख-परख और हिसाब करके बनाई गई हो और जो एक स्थायी सिद्धांत का रूप ले सके। इसके बिना जिनेवा में विजय कोई मायने नहीं रखती।

[1996]

मुस्कान के आवरण में कुटिलता

ब्रह्मा चेल्लानी

जब अगले महीने चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन दिल्ली पहुँचेंगे तो उनके चेहरे की मुस्कान और भारत-चीन मैत्री पर उनके सुरीले बयान, भारतीय सुरक्षा को कमजोर करने वाली उनकी नीतियों पर शायद ही परदा डाल पायें। वर्षों से चीन ने सुविचारित रूप से यह चाहा है कि भारत को हिमालय के दक्षिण में ही बाँध कर रखा जाय जिससे कि वह प्रतिद्वंद्वी के रूप में खड़ा ही न हो सके। इसके अन्तर्गत पाकिस्तान को भारत के समकक्ष खड़ा करना, म्यानमार को कूटनीतिक वेधशाला के रूप में इस्तेमाल करना और भारत के अन्य पड़ोसी देशों बांग्ला देश, नेपाल और श्रीलंका में अपनी जड़ें मजबूत करना चीन की रणनीति में शामिल है। चीनी भूटान में भी दिलचस्पी ले रहे हैं, जो इस बात से स्पष्ट होता है कि यदि उन्हें वहाँ दूतावास खोलने की इजाजत मिल जाय तो वे सीमा मुद्दे को थिम्पू की शर्तों पर सुलझाने को तैयार हैं।

भारतीय और चीनी सभ्यताओं के बीच के ऐतिहासिक रूप से बफर राज्य तिब्बत को हड़प कर माओ जेदोंग ने भारत में नागा विद्रोहियों को आर्थिक और सैनिक सहायता देनी शुरू की। साथ-साथ भारत को सुरक्षा का झूठा अहसास दिलाते हुए 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' की लोरियाँ भी गायी जाती रहीं। भारतीय क्षेत्र में चीनी घुसपैठ और आखिरकार 1962 के आक्रमण ने एक जोरदार झटके का काम किया, जिससे भारत को अब भी उबरना शेष है। माओ के बाद चीन ने भारत को इसी उप-महाद्वीप तक ही सीमित रखने की रणनीति अपनायी। इसके लिए उसने क्षेत्रीय रणनीतिक गठबंधनों का प्रयास किया। यह कोई संयोग नहीं कि चीनी हथियारों के तीन सबसे बड़े ग्राहक भारत के पड़ोसी देश पाकिस्तान, म्यानमार और बांग्लादेश हैं।

हाल के वर्षों में, जब भारत की परम्परागत रक्षा क्षमता आधुनिकीकरण के अभाव में कमजोर होने लगी, नई दिल्ली चीन को तुष्ट करने के लिए झुकने लगा। 1993 का सीमा-शांति समझौता उन सिद्धांतों पर आधारित था जो बीजिंग काफी समय से चाह रहा था और जो भारतीय क्षेत्रों पर उसके अवैध कब्जे को वैधता प्रदान करती है। उसका अर्थ है: सीमा-विवाद को अलग रखो और संबंधों को सामान्य बनाओ। दोनों देशों ने वास्तविक नियंत्रण रेखा पर ''शान्ति बनाए रखने'' की वचनबद्धता दुहराई है - लेकिन इस 'वास्तविक नियंत्रण रेखा' को पूरी तरह पारिभाषित किये बिना जो आज तक भ्रम और विवादों से भरी पड़ी है। यथास्थिति पर जोर देने के लिए सीमा संबंधी मुद्दों पर 1993 के समझौते के बाद

से कई कदम उठाए गए। पर चीन द्वारा लगातार भारत के शत्रुओं को सैन्य तकनीक का गोपनीय रूप से हस्तांतरण और उसकी क्षेत्रीय गतिविधियाँ दर्शाती हैं कि पूरी तरह सीमा पर शांति एक दिवास्वप्न के अलावा और कुछ नहीं है।

भारत को उप-महाद्वीप में नीचा दिखाने के लिए चीन की रणनीति का सबसे अहम् मोहरा है - पाकिस्तान। हर बार जब भारत तकनीक में कोई प्रगति करता है, चीन इसे बेकार करने के लिए तुरंत पाकिस्तान को वैसी ही तकनीक या अस्त्र प्रणाली की आपूर्ति कर देता है। यह तब भी हो जाता है जब कि नई दिल्ली ने उस तकनीक का अस्त्रीकरण किया भी नहीं हो। चीन द्वारा पाकिस्तान को नाभिकीय सक्षम एम - 11 मिसाइलों का हस्तांतरण भारत के 'पृथ्वी' के परीक्षण के दो साल बाद लेकिन भारत डायनामिक्स लिमिटेड द्वारा धरती से धरती पर मार करने वाली मिसाइल की पहली खेप के उत्पादन शुरू होने के पाँच वर्ष पहले ही शुरू हो गया। भारत द्वारा 1974 में किया गया परमाणु परीक्षण उस कुशलता से डिजाइन किया ही नहीं गया था कि उसका सैन्य उपयोग हो सके, लेकिन '80 के दशक की शुरूआत में ही बीजिंग ने इस्लामाबाद को मिसाइल आधारित नाभिकीय अस्त्र का जाँचा हुआ नमूना हस्तांतरित कर दिया। नीम पर करेले की तरह, चीन के 1983 के लोपनोर नाभिकीय परीक्षण के समय तत्कालीन पाकिस्तानी विदेश मंत्री याकूब खान उपस्थित थे।

इससे इन संभावनाओं को बल मिला कि इस परीक्षण में पाकिस्तानी बम का उपयोग किया गया था।

चीन के लिए भारत को बाँधे रखने की नीति का सबसे बड़ा आकर्षण 'कम खर्च और भारी लाभ' है। इस नीति का लक्ष्य यह है कि भारत के विरूद्ध अप्रत्यक्ष खतरा बनाए रखा जाय जिससे कि यह किसी न किसी के साथ तनाव में उलझा रहे। और चूँकि इस नीति में सारी चालें अप्रत्यक्ष रूप से चली जानी है, इसलिए चीनी ड्रेगन एक तरफ नई दिल्ली से मित्रता की बातें भी करता रह सकता है और अपने पिछलग्गुओं के द्वारा आग भी उगल सकता है और चुपचाप अपने नाखून भी तेज करता रह सकता है।

इस रणनीति का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह है कि चीन की भारत से किसी प्रकार की तुलना न की जाय। भारत को 'दक्षिण एशिया लीग' में पाकिस्तान के खिलाफ रहना है, जिससे चीन के साथ इसकी तुलना के किसी प्रयास को फूँक मारकर उड़ा दिया जाय। भारत और चीन के बीच रणनीतिक प्रतिद्वन्द्विता या तुलनात्मक निवेश अवसरों जैसे विषय पर भी आयोजित अकादमिक गोष्ठियों में बीजिंग अपने प्रतिनिधि भेजने से इन्कार कर देता है।

ट्रैक-II द्वारा आयोजित ''शंघाई इनिशिएटिव'' में चीनी विदेश मंत्रालय के दबाव डालने पर पाकिस्तान को भी शामिल करना पड़ा, जिसे वास्तव में भारत-चीन मामलों पर ही

विचार करना था। इस लेखक को यह इसलिए मालूम है क्योंकि ट्रैक-II को शुरू करने में इसने भी योगदान किया था। बीजिंग ने नई दिल्ली की मैत्री की नीति को कितना आदर दिया है, यह इसी से जाहिर होता है कि उसने 1993 से भारतीय सुरक्षा को परोक्ष रूप से धमकी देना बढ़ा दिया है। इस्लामाबाद को निर्यात किए गए रणनीतिक उपक्रमों के रहस्योद्घाटन से भी भारतीय नीति निर्धारकों के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। सबसे नया रहस्योद्घाटन पाकिस्तान को मिली नाभिकीय भट्ठी और अन्वेषक यंत्रों के बारे में है। पिछले महीने पाकिस्तान को भेजी जाने वाले नाभिकीय सामग्रियों से लदे चीनी जहाज को हांगकांग में जब्त किया गया। पिछले महीने ही अमेरिका की खुफिया एजेंसी ने चीन द्वारा पाकिस्तान में एम-11 मिसाइलों के निर्माण के लिए फैक्टरी लगाने की रिपोर्ट दी थी। हर बार जब कोई ऐसा नया गुप्त हस्तांतरण सामने आता है, तो अमेरिका (यह भी ऐतिहासिक क्रम में पाकिस्तान का उपयोग भारत को संतुलित करने के लिए करता रहा है) सार्वजनिक रूप से चीख-पुकार मचाता है, अपने नाभिकीय प्रसार विरोधी कानूनों को लागू करने की धमकी देता है, फिर पीछे हट जाता है।

इस वर्ष की शुरूआत में चीन द्वारा 'सेन्ट्रीफ्यूज' चुम्बकों के निर्यात का पता चलने के बाद पाकिस्तान के यूरेनियम संवर्द्धन कार्यक्रम में चीन की लगातार भूमिका स्पष्ट हो गई है। लेकिन भारत के लिए ज्यादा चिंताजनक खुशाब रिसर्च रियेक्टर होना चाहिए, जो चीनी तकनीकी की मदद से लगभग पूरा होने पर है। 40-एम.डब्ल्यू.टी. नामक भारी जल रियेक्टर पाकिस्तान के प्लूटोनियम और ट्रीटियम उत्पादन के कार्यक्रमों के लिए अत्यंत जरूरी है, जिनका उपयोग मिसाइल द्वारा प्रयुक्त होने वाले छोटे, सशक्त आयुधों के निर्माण में होता है। भारत के योजना बनाने वालों को जानना चाहिए कि एम-11 के अलावा, नई दिल्ली पहुँचने योग्य एम-9 मिसाइलें (ताइवान में पिछली मार्च में आतंक मचाने वाले चीनी हथियार) भी पाकिस्तान में एक देशी नाम 'हत्फ' के रूप में शायद शीघ्र ही उत्पादित होने लगें।

1962 की अपमानजनक हार के राष्ट्रीय मानस में गहराई से पैठे होने के कारण, भारत ने चीन को ऐसा दैत्य मान लिया है जिसे छेड़ना उचित नहीं है। जबकि यह ड्रैगन भारतीय हितों को लगातार कमजोर करने पर लगा रहा है, भारतीय अधिकारी इसकी आलोचना करने में प्राय: हिचकते हैं। बोलने में झिझक मूलत: डर से पैदा हुई है। हालाँकि चीन की नाभिकीय गतिविधियों और गुप्त हस्तांतरणों पर भारत की चिन्ता सार्वजनिक रूप से जाहिर करके विदेशमंत्री श्री गुजराल ने भारतीय रूख में बदलाव का इशारा किया है। श्री गुजराल ने कहा कि देश चीन की गतिविधियों को ज्यादा देर तक नज़रअंदाज नहीं कर सकता।

नई दिल्ली को चीन की कथनी-करनी में फर्क करना ही होगा। दोनों के बीच की खाई अब

तक परमाणु अप्रसार के टूटे हुए वायदों से भरी है। इसे चीन की बढ़ती सैनिक क्षमता पर ध्यान रखना होगा न कि उनके घोषित नेक इरादों पर जो कि बदलते रहते हैं। 1962 और 1979 में यह भारत और वियतनाम को सबक सिखाने पर आमादा था और हाल में ही इसने ताइवान को आतंकित किया है। श्री गुजराल ने कहा था कि जियांग की प्रस्तावित यात्रा के दौरान ''भारत चीन के साथ एक व्यापक सुरक्षा-वार्ता करने की इच्छा रखता है, न कि सिर्फ आर्थिक सहयोग बढ़ाने पर।''

चीन का *ड्रैगन* (एक मिथकीय दैत्य) नामकरण इसकी भारत-नीति से स्पष्ट हो चुका है। इस पौराणिक पात्र से साम्य रखते हुए चीन ने अपनी भारतीय नीति में छिपकर घात करने का समावेश किया है। भारत अपनी प्राथमिक सुरक्षा व्यवस्था सशक्त करके ही इसे बाँधे रखने की चीनी रणनीति को विफल कर सकता है और भय तथा ब्लैकमेल से छुटकारा पा सकता है।

[1996]

तिब्बत में आणविक अस्त्र

चीन के पास अभी लगभग 300-400 आणविक हथियार हैं और विश्वास किया जाता है कि इनमें कई दर्जन तिब्बत के पठार में हैं जिसे आज छिंघई प्रांत कहा जाता है।

हाइयान के पश्चिम कैदम बेसिन में चीन ने 1970 के दशक के आरंभ में डी एफ-4 प्रक्षेपास्त्रों को स्थापित किया और उन्हें दागने का स्थल निर्मित किया। दा कैदम स्थल (37.5 एन, 95.18 ई) पर प्रक्षेपण पट्टी के करीब सुरंगो में दो प्रक्षेपास्त्र क्षैतिज रूप में रखे गए हैं। ईंधन और ऑक्सीडाइजर अलग सुरंगो में रखे गए हैं जो प्रक्षेपण पट्टी की सीध में है।

श्याओं कैदम स्थल (37.26 एन, 95.08 ई) पर माना जाता है कि दा कैदम स्थल की तरह ही प्रक्षेपास्त्र लगाए गए हैं और प्रक्षेपण स्थल बनाया गया है। श्याओ कैदम और दा कैदम पर प्रक्षेपास्त्र 1971 में लगाए गए। ये दोनों स्थल संभवत: तिब्बत के पठार पर आणविक हथियारों के इस्तेमाल के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थल हैं।

डी एफ-4 चीन का पहला अंतर्राष्ट्रीय बैलेस्टिक प्रक्षेपास्त्र है, जिसकी 1971 में लगाए जाने के वक्त मार की क्षमता 4,800 किलोमीटर थी। तिब्बत के पठार में ही देलिघा (37.6 एन, 97.12 ई) नामक एक अन्य स्थल पर डी एफ-4 प्रक्षेपास्त्र लगाए गए है। यह स्थान दा कैदम से करीब 200 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में है। यह स्थान छिघई प्रांत में प्रक्षेपास्त्र स्थलों का मुख्यालय है।

तिब्बती प्रांत अम्दो में छिंघई और सिचुआन प्रांतों के बीच में सीमा पर एक नया आणविक प्रक्षेपास्त्र डिवीजन बनाया गया है। यहाँ पर चार सी एस एस-4 प्रक्षेपास्त्र लगाए गए हैं, जिनकी मार कने की क्षमता 8,000 मील है।

भारतीय शोधकर्ता एस. देवकीनंदन के अनुसार 15,000 फुट की ऊँचाई पर स्थित नागचुका लंबी दूरी तक मार करने वाली चीन के बैलेस्टिक प्रक्षेपास्त्रों का सबसे बड़ा अड्डा है। एक दूसरे सूत्र से 1,750 मील तक मार करने वाले 90 प्रक्षेपास्त्र नागचुका में लगाए जा सकते हैं। 1991 में 'यू एस न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट्स' ने 22 जुलाई के अपने अंक में एक नक्शा प्रकाशित किया जिसमें दिखाया गया कि नागचुका प्रक्षेपास्त्र परीक्षण स्थल है। यह सूचना विलियम आर्किन और रिचर्ड फील्डहाउस की पुस्तक 'न्यूक्लियर बैटलफील्ड्स' से ली गई थी।

1969 में भारतीय खुफिया सूत्रों ने सूचना दी कि चीन अपने प्रमुख आणविक अड्डे को लॉप नोर से हटाकर नागचुका ले जा रहा है। बाद में फ्रांस की वायुसेना की एक पत्रिका ने इसकी पुष्टि की।

1968 से 1973 की बीच चीन ने तिब्बत क्षेत्र में पुराने वायु क्षेत्रों का विस्तार किया और नए वायु अड्डे बनाए। अभी चीन के पास तीन ऐसे विमान हैं जो अणुबम गिरा सकते हैं। ये हैं: हांग-6 बमवर्षक, हांग-5 बमवर्षक और छियान-5 हमलावर जेट। हांग-6 तीन हजार किलोमीटर के घेरे तक हमला कर सकता है और इस तरह यह पूरे पूर्व सोवियत संघ एवं भारत तक पहुँच सकता है। माना जाता है कि सभी हांग-6 विमान तिब्बती पठार के सभी वायु क्षेत्रों में उतर सकते हैं और वहाँ से उड़ान भर सकते हैं।

सन् साठ और सत्तर के दशक में तिब्बत में मुख्य सैनिक वायु अड्डे ल्हासा से दस किलोमीटर उत्तर में दामशुंग, कोकोनोर झील से 25 किलोमीटर दक्षिण में छाबचा और गोलमुद में थे। सन् साठ के दशक में छाबचा और गोलमुद वायु क्षेत्रों का इस्तेमाल 'तिब्बती स्वायत्त क्षेत्र' और भारतीय सीमा की ओर जाने वाले विमानों को रास्ते में ईंधन देने के लिए किया गया। ल्हासा वायु-क्षेत्र का स्थान गोंग्गर वायु क्षेत्र ने ले लिया जो ल्हासा से 60 मील दक्षिण-पश्चिम में और भारत-चीन सीमा से 100 मील उत्तर में स्थित है। गोंग्गर सीमा-क्षेत्र में तैनात चीनी सैनिकों के लिए प्राथमिक सैनिक वायु-क्षेत्र और मुख्य आपूर्ति केंद्र रहा है।

गोंग्गर वायु-क्षेत्र 11,682 फुट ऊँचा है। यह दुनिया के सबसे ऊँचे युद्धक अड्डों में है।

तिब्बत दक्षिण एशिया के राष्ट्रों भारत, पाकिस्तान और चीन के मध्य में है। तिब्बती पठार के आणविकीकरण और सैन्यीकरण का दक्षिण एशिया पर अस्थिरता फैलाने वाला असर हो रहा है। भारत के आणविक कार्यक्रम चीन और पाकिस्तान से आने वाले खतरों से ही प्रेरित हुए हैं। तिब्बती पठार को अणुमुक्त क्षेत्र बना देने से तिब्बत की एक प्रतिरोधक (बफर) राज्य के रूप में हैसियत बहाल हो सकती है और इससे क्षेत्रीय तनाव काफी घट सकता है।

तिब्बत को आणविक हथियारों से मुक्त करने का प्रश्न क्षेत्रीय है, लेकिन यह विश्वव्यापी मुद्दे भी उठाता है। भारत ने बार-बार कहा है कि भारत की आणविक क्षमताओं के बारे में रखे गए प्रस्ताव भेदभाव बरतने वाले हैं। यह समस्या विश्वव्यापी है और इसका इसी स्तर पर हल निकाला जाना चाहिए। पाकिस्तान ने दक्षिण एशिया को आणविक-मुक्त-क्षेत्र बनाने का बार-बार प्रस्ताव रखा है, लेकिन इसमें चीन को शामिल नहीं किया। इस कारण भारत इन प्रस्तावों से संतुष्ट नहीं हुआ है।

भारतीय आणविक विशेषज्ञ दलाईलामा द्वारा अपनी पाँच-सूत्री शांति-योजना में औपचारिक रूप से तिब्बत को आणविक-मुक्त-क्षेत्र बनाने का प्रस्ताव करने के पहले से ही इसका समर्थन करते रहे हैं। ब्रह्मा चेल्लानी दक्षिण एशिया में आणविक प्रसार रोकने के आदर्श प्रस्ताव के हिस्से के रूप में इसका जिक्र करते रहे हैं। अतीत में ऐसे प्रस्ताव दुखद रूप से अयथार्थवादी रहे हैं। लेकिन संभव है कि आज से कई साल बाद नये क्षेत्रीय रिश्ते इस बिंदु तक विकसित होंगे कि तिब्बत को आणविक-मुक्त बनाना संभव हो जाएगा।

अपनी पाँच सूत्री शांति योजना में दलाई लामा का यह कथन महत्वपूर्ण है:

> तिब्बत की जनता क्षेत्रीय और विश्व शांति के लिए अपना योगदान करने को इच्छुक है, और मेरा विश्वास है कि वे ऐसा करने की अनोखी स्थिति में हैं। तिब्बत की एशिया के हृदयस्थल पर अत्यंत महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति है, यह महाद्वीप की तीन बड़ी शक्तियों - भारत, चीन और सोवियत संघ को अलग करता है। इसी महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति के कारण समूचे इतिहास में इस पर शांति एवं स्थिरता कायम रखने की अनिवार्य भूमिका आती रही है। इसी विशेष स्थिति के कारण एशिया के साम्राज्य एक-दूसरे को तिब्बत से बाहर रखने के जोरदार प्रयासों में लगे रहे। एक स्वतंत्र प्रतिरोधक (बफर) राज्य के रूप में तिब्बत का महत्व क्षेत्र की स्थिरता का अभिन्न हिस्सा रहा है।
>
> [1993]

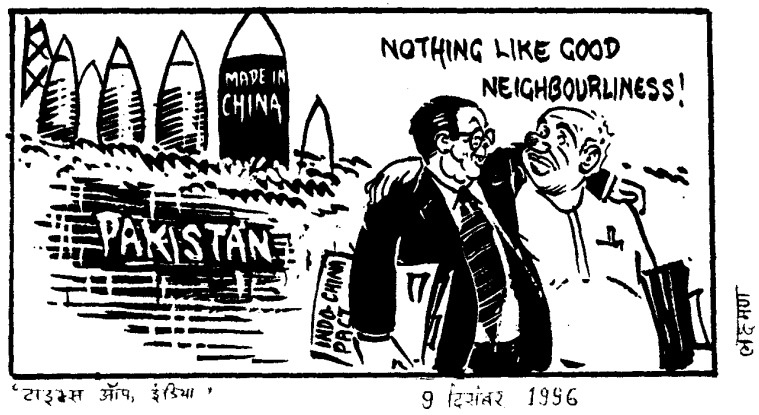

स्त्रोत

1. गिरिलाल जैन, उनकी पुस्तक 'पंचशील एण्ड आफ्टर' (एशिया पब्लिशिंग हाउस : बंबई, 1960) से उद्धृत।
2. पंडित जवाहरलाल नेहरू, 8 नवंबर 1962 को लोकसभा में चीनी आक्रमण पर ऐतिहासिक प्रस्ताव पेश करते हुए भाषण।
3. सुधाकर भट्ट, उनकी पुस्तक 'इंडिया एण्ड चाइना' (पोपुलर बुक सर्विस : नई दिल्ली, 1967) से।
4. के.एन. मेनन, उनकी पुस्तक 'चाइनीज़ बिट्रेयल ऑफ इंडिया' (हिंद ज्ञान माला : नई दिल्ली, बिना तिथि) से
5. भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के पूर्व एशिया शोध एवं समन्वय विभाग द्वारा तैयार किए गए दस्तावेज 'चाइनाज् बिड फॉर वर्ल्ड पावर', (मई, 1963) से।
6. निर्मल वर्मा, उनके निबंध संग्रह 'दूसरे शब्दों में' (भारतीय ज्ञानपीठ : नई दिल्ली, 1997) से।
7. सुनंद के. दत्ता रे, 12-14 अगस्त 1989 को दिल्ली में आयोजित 'तिब्बत एण्ड पीस इन साउथ एशिया' विषयक अंतर्राष्ट्रीय कन्वेंशन में दिए गए वक्तव्य से।
8. राम जेठमलानी, 'इंडियन एक्सप्रेस' (नई दिल्ली, तिथि ज्ञात नहीं, 1994) से।
9. रक्षत पुरी, 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली, 8 फरवरी 1995) से।
10. अजित भट्टाचार्जी, 'द पायोनियर' (नई दिल्ली, 3 मार्च 1995) से।
11. शंकर शरण, 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली, 16 मई 1996) से।
12. निखिल चक्रवर्ती, 'मेनस्ट्रीम' (नई दिल्ली, 7 अक्तूबर 1995) से।
13. राहुल बेदी, 'द पायोनियर' (नई दिल्ली, 2 जुलाई 1996) से।
14. ब्रह्मा चेल्लानी, 'द पायोनियर' (नई दिल्ली, 23 अक्तूबर 1996) से।
15. इंटरनेशनल कैम्पेन फॉर तिब्बत द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'न्यूक्लियर तिब्बत' (वाशिंगटन डी.सी., 1993) से।